सहजानंद शास्त्रमाला

परमात्मप्रकाश प्रवचन

भाग 7

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

परमात्मप्रकाश प्रवचन

सप्तम भाग

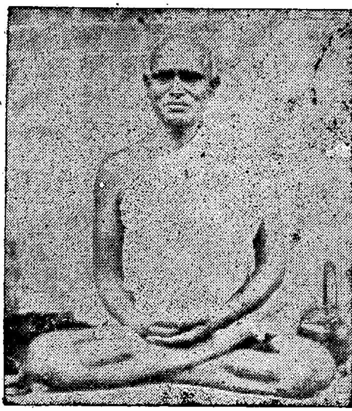

लेखक:—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००] १९६५ [मूल्य १)५०

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान् , जो मैं हूं वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहं राग वितान ।।

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ।।

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ।।

[५]

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।

अहिंसा धर्मकी जय !

परमात्मप्रकाश प्रवचन

सप्तम भाग

इस ग्रन्थका नाम है परमात्मप्रकाश। जिसमें परमात्मस्वरूपपर प्रकाश किया गया हो, उस ग्रन्थका नाम यह सार्थक है परमात्मप्रकाश। परमात्मत्व दो प्रकारसे देखा जाता है—एक कार्यपरमात्मत्व और एक कारणपरमात्मत्व। कार्यपरमात्व तो अरहंत और सिद्ध भगवानमें है। जिसकी आत्मा परम शुद्ध है, पूर्ण विकासमय है वह है कार्यपरमात्मा और चूँकि कार्यपरमात्मामें कुछ नई बात नहीं आती है, जो था वही आवरणरहित शुद्ध प्रकट होता है, इस कारण जो था वही हुआ, जैसा था वैसा हो गया। ऐसा देखनेके उपायसे अन्तरमें उस शक्तिको निरखा जाये तो वह शक्ति है कारणपरमात्मा। कारणपरमात्मा भी पर्यायरूप होता है और द्रव्यरूप होता है। पर्यायरूप कारणपरमात्मा कार्य-परमात्मा होनेके पूर्व शुद्ध परिणमनका नाम है और द्रव्यरूप कारणपरमात्मा आत्मामें अनादि अनन्त अहेतुक नित्य अंतःप्रकाशमान् चैतन्यस्वभावमय है। इस ग्रन्थमें कारणपरमात्माकी मुख्यतासे वर्णन है। उसही कारण-परमात्मत्वको अब फिर भी अनेक वर्णनोंसे स्पष्ट किया जा रहा है। शुद्ध-निश्चयनयसे सब जीव केवल ज्ञानादि गुणोंसे समान हैं। इस कारण समस्त कारणआत्मावोंमें परस्पर रंच भी भेद नहीं है। जैसे १६ वाने तप्तके स्वर्णकी भेदरूपणा नहीं होती है, इसी प्रकार इन समस्त जीवोंमें भी परस्पर कोई भेद नहीं है। इस विषयका प्रतिपादन इस दोहेमें किया जा रहा है।

जो भत्तउ रयणत्तयहं तसु मुणि लक्खण एहु।
अच्छउ कहिंवि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ॥६५॥

जो मुनि रत्नत्रयका भक्त है उसका यह लक्षण जानना कि वह किसी भी कुटीमें शरीरमें कोई जीव रहो, उस जीवमें यह ज्ञानी पुरुष भेद नहीं करता है। अर्थात् शरीरके भेदसे जीवोंमें भेद नहीं डालता है। ये सब दृष्टिका प्रताप है। जहां जीवके सहजस्वरूपपर दृष्टि है वहां एक ही स्वरूप सर्वत्र दृष्ट होता है। शरीरके भेदसे जीवका भेद नहीं ज्ञात होता। अद्वैतवादमें और जैनसिद्धान्तके एकत्ववादमें अन्तर इतना ही है कि जैनसिद्धान्त तो स्वभावमें दृष्टिको लेकर अद्वैतका वर्णन करता है और अद्वैतवाद सर्वप्रकार से सर्वत्र सर्वदा एक ही अद्वैतका कथन करता है, जैसा सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त है। सर्वत्र जीव एक है, उसमें भेद नहीं है। शरीरके भेदसे भेद करना उपचार है। तो इस स्वभावदृष्टिके अद्वैतवादमें इस स्वभावके अनुभवी पुरुषको स्वभावमात्र दृष्ट हो रहा है, उसके तो इस एकपनेका भी विकल्प नहीं है, किन्तु निज अद्वैतका अनुभव है।

ऐसे निज अद्वैतका अनुभव कर चुकने वाला ज्ञानी पुरुष जब अपने अनुभवकी बात शब्दों द्वारा दूसरोंको प्रकट करना चाहता है तो उसको उस ही रूपमें कितना ही बतानेकी कोशिश करता है, पर बता नहीं पा रहा है। जो कुछ बताना होता है वह व्यवहारदृष्टिसे हो पाता है। वह जानता है कि सबकी अनुभूति जुदा है और उस अनुभू-तत्त्वको बतानेको जब चलता है तब व्यवहारिकता आ ही जाती है। तिस पर भी यह कह लिया ही जाता है कि वह कारणपरमात्मत्त्व सर्वत्र एक समान है। शरीरके भेदसे उसमें भेद नहीं किया जाता। जैसे एक विद्वान् था तोतला। तो तोतले लोग स नहीं बोल सकते हैं। स को ट बोला करते हैं। कोई नए विद्यार्थी पढ़ने आए तो उनको जब मंगलाचरण पढ़ाना था तो मंगलाचरणमें एक शब्द आता है सिद्धिरस्तु। उसकी अनुभूतिमें पूरा अनुभव है कि यह तालवी स है और सिद्धिरस्तु उसका उच्चारण है। अपने अन्तर्जल्पमें उस शब्दको वह सही-सही बोल लेता था, किन्तु अपने मुखसे उस भावको वह व्यक्त करता था तो वह टिद्धिरस्तु बोलता था। उसे अपनी गलती मालूम थी कि मैं जब बोलूंगा तो टिद्धिरस्तु बोलूंगा, तिस पर भी वह इतनी हिम्मत बनाता था कि सिद्धिरस्तु बोलूं। इसी प्रयत्नके प्रसंगमें वह शिष्योंसे कहता था कि देखो, मैं चाहे जो कुछ बोलूं, पर तुम सब टिद्धिरस्तु समझना। भीतरकी बात तोतली जिह्वासे कैसे बतायी जा सकती है? इसी प्रकार अनुभूत परम शुद्ध पारिणामिक भावका मर्म व्यवहारवचनों द्वारा कैसे यथार्थ बताया जा सकता है?

भैया! उपदेश होना जरूरी है, क्योंकि इस परमार्थ एकत्व अद्वैत निज कारणपरमात्मत्त्वकी दृष्टि बिना तो कल्याण होनेका नहीं है। बताना भी आवश्यक है, और जब बताने चलते हैं तो व्यवहार आ पड़ता है। ऐसे मिश्रणके प्रसंगमें यह कथन चल रहा है कि ज्ञानीपुरुष जीवमें भेद नहीं देखता है अर्थात् शरीरके भेदसे किसीको बड़ा छोटा नहीं देखता है। कोई जीव किसी भी कुटीमें रहे, शरीरमें रहे, फिर भी उस जीवके स्वरूपको तो निहारो; उसके स्वरूपमें, स्वभावमें भेद नहीं है। जो वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानी पुरुष है, जो रत्नत्रयात्मक परमात्मस्वरूपका भक्त है, उसका यह लक्षण जानो कि उसकी दृष्टिमें जीवके स्वरूपमें भेद नहीं आता है। योगीन्दुदेव यहां जिज्ञासु शिष्य प्रभाकर भट्टको समझा रहे हैं कि जीव किसी भी देहमें ठहरे तो भी ज्ञानी जीव जानता है कि शुद्ध निश्चयसे १६ बाने ताव के तपे स्वर्णमें जैसे भेद नहीं किया जाता, इसी प्रकार केवलज्ञान आदिक गुणोंके द्वारा भेद नहीं किया जाता।

इतना उपदेश सुननेके अनन्तर प्रभाकर भट्ट पूछते हैं कि हे भगवन् ! जीवका यदि देहके भेदसे भेद नहीं है तो फिर जो अन्य कोई लोग भी ऐसा बोलते हैं कि जीव एक ही है तो उसी मंतव्यकी सिद्धि हो गई ? इसके उत्तरमें योगीन्दु देव कहते हैं कि देखो भाई जातिअपेक्षासे जीवमें भेद नहीं हैं, स्वरूपास्तित्त्व तो सब जीवोंका न्यारा-न्यारा है। उन्हें आनन्दका अनुभव अपने अपने प्रदेशोंमें ही होता है, अपनी आत्माका अनुभवन उन सबको अपने अपने ही प्रदेशोंमें होता है, पर उन सबका जो असाधारण गुण है ज्ञानगुण चैतन्यस्वरूप, उसकी अपेक्षा देखा जाय तो सर्वजीव एक हैं। जैसे सेना कहा तो सेनामें कितने ही घोड़े हैं, हाथी हैं, मनुष्य हैं, रथ हैं, तिस पर भी चाहे हाथीका सवार सैनिक हो, चाहे घोड़ेका सवार सैनिक हो, चाहे पदाती हो, सबको संग्रहनयमें एक सेना शब्दमें कहा जाता है। जैसे आम्रवन कहा, उसमें कितने ही आम्रके वृक्ष हैं, सब जुदे-जुदे हैं, सबकी व्यक्तियां अलग अलग हैं तिस पर भी उस समूहको जातिकी अपेक्षा एक वन शब्दसे कहा जाता है।

इस प्रकार शुद्ध संग्रहनयकी बात नहीं कही जा रही है, उसमें तो फिर भी एक घोंत नहीं हो सकता, सर्वजीवोंको उनके शुद्ध स्वभावकी दृष्टि में देखने पर अर्थात् शुद्ध संग्रहनयसे देखने पर जीव एक है। भेद नहीं है, और फिर व्यवहारनयसे व्यक्तिकी अपेक्षा जैसे वनमें भिन्न-भिन्न वृक्ष हैं, उनमें भेद नहीं नजर आता है, इसी प्रकार प्रत्येक जीवकी दृष्टिसे अर्थात् व्यक्तिकी अपेक्षासे उनमें भेद नजर आता है। यहां ज्ञानी जीवका लक्षण बताया जा रहा है। जो परमार्थतत्त्वका अनुभवी पुरुष हैं, परिचय कर चुकने वाला आत्मा है, उसका यह लक्षण है कि उसे सर्वजीव समान नजर आते हैं। जब सब जीव समान नजर आयें तब वहां क्लेशकी तरंग नहीं उठती।

मोही जीव सोचता है कि मेरा इतना नुक्सान हो गया, वह नुक्सान का अनुभव तब करता है जब उसकी दृष्टिमें अन्य सब पुरुषोंके साथ समानता का भाव नहीं है। समानताका भाव हो तो वह समझ जायगा कि क्या नुक्सान हुआ। १० हजारका टोटा पड़ गया। कहां टोटा पड़ा ? यहां न हुआ और कहीं चला गया। जब रूसका नेता कई वर्ष पहिले यहां आया था तो समाचार यह था कि उसके स्वागतमें ४०–५० लाख रुपया खर्च हुआ। एकदम सुनते ही यह ध्यान जा सकता है कि ओह ! ४०–५० लाख रुपया एक दिनमें बरबाद कर दिया गया। बरबाद न किया जाता तो कितने ही गरीबोंके काम आता। पर थोड़ी उदारताकी दृष्टिसे विचारो तो वहां

एक भी पैसा नहीं बरबाद हुआ। जो कुछ भी खर्च हुआ वह यहांके गरीबों में ही फैल गया। जिन्होंने काम किया उनके काममें वह पैसा आया। कैसे बरबाद हुआ? बल्कि धनिकोंके पास जो धन संग्रह था वहांसे निकल कर वह पैसा गरीबोंमें फैल गया। उदारदृष्टि होने पर नुकसानका विकल्प नहीं रहता और परमार्थसे सर्वजीवोंके प्रति स्वभावदृष्टिसे देखनेकी उदारता होने पर तो इसे कुछ भी कष्ट और विकल्प नहीं रहता। ज्ञानी जीव सर्वजीवोंको ज्ञानात्मक गुणोंसे समान मानता है।

ज्ञानाका लक्षण बताकर अब यह बात दिखाते हैं कि तीनों लोकमें स्थित जीवोंका भेद मूढ़पुरुष ही करता है। मूढ़का अर्थ है— पर्यायव्यामोह। जिसको पर्यायमें ही आत्मीयता नजर आती है, पर्यायको ही जो सर्वस्व द्रव्य समझता है। सो पर्यायमें तो भेद ही है, पर्यायभेदसे द्रव्यभेद भी कर डालता है—अमुक जीव यों है, अमुक जीव यों है। पर ज्ञानीपुरुष भिन्न-भिन्न रखे हैं, उनमें जैसे स्वर्णत्वकी दृष्टिसे भेद नहीं किया जाता, इसी प्रकार केवलज्ञान की दृष्टिसे उन जीवोंमें भेद न किया जाकर और सब जीवोंके उस ज्ञानस्वभाव की दृष्टिसे एकत्वको समझता है।

जीवहं तिहुयण संठियहं मूढा भेउ करंति।
केवलणाणिं णाणि फुडु सयलुवि एक्कु मुणंति ॥९६॥

मूढ़ पुरुष तीनों लोकमें रहने वाले जीवोंमें भेद करता है और ज्ञानी जीव केवलज्ञानसे सब जीवोंको स्फुटरूपसे समान जानता है। जैसे सफेद, काला, लाल आदि भिन्न-भिन्न वस्त्रोंमें लिपटे हुए उन १६ बाने स्वर्णमें कोई भेद नहीं है अन्तरसे किन्तु व्यवहारसे उन भिन्न-भिन्न स्वर्णोंको वेष्ठनके भेदसे जैसे भेद कर दिया जाये, इसी प्रकार तीन लोकमें रहने वाले जीवोंके निश्चयनयसे, उनके स्वभावकी दृष्टिसे यद्यपि भेद नहीं है तो भी व्यवहारसे उनके देहादिक भेदको देखकर, उनके विभिन्न परिणमनको देखकर मूढ़ पुरुष निश्चयसे भी भेद कर डालता है अर्थात् उन्हें द्रव्य समझकर भिन्न-भिन्न द्रव्यरूपमें अपने उपयोगमें समझता है; पर ज्ञानी पुरुष केवलज्ञानके द्वारा अर्थात् वीतराग सहजानन्दरूप एक परमसुखके अविनाभावी ज्ञानके द्वारा वीतरागस्वसम्वेदन द्वारा समस्त जीवोंको संग्रहनयसे एक मानता है अर्थात् समान देखता है।

भैया! बहिर्मुख जीव लौकिक दुनियामें ठहरा है तो अन्तर्मुख जीव अलौकिक दुनियामें ठहरा है। इसकी अलौकिक दुनिया एक अनुभवरूप है। अज्ञानी की लौकिक दुनिया विचित्र नाना रूप है। ज्ञानी पुरुष सर्वजीवों को स्वभावदृष्टिसे एक समान देखते हैं। इन ही भावोंको अब पुनः सीधे

शब्दोंमें कहते हैं कि केवल ज्ञानादि लक्षणोंसे अथवा शुद्ध संग्रहनयसे सब जीव समान हैं।

जीवा सयलवि णाणमय जम्मणमरणविमुक्क।
जीवपएसहिं सयलसम सयलवि सगुणहिं एक्क ॥६७॥

सभी जीव ज्ञानमय हैं, जन्ममरणसे विमुक्त हैं। अपने प्रदेशोंमें समान हैं और सभी जीव अपने गुणोंके द्वारा समान हैं। एक और समान ये दोनों शब्द कभी पर्यायवाची भी होते हैं। जहां समान शब्द बोलना होता है वहां एक शब्द भी बोल दिया जाता है। जैसे गेहूंके बड़े ढेरमें एक-एक दाने यद्यपि जुदा-जुदा हैं, पर वे सब एक तरहका स्वरूप लिए हुए हैं। इस लिए यों कह देते हैं कि ये सब गेहूं एक हैं। शुद्ध संग्रहनयसे उन सब जीवोंको समान निरख कर एक देखा जाता है। संग्रहनयसे एक है—इसका अर्थ ही यह है कि वे सर्वपदार्थ समान हैं। चैतन्यस्वभावकी मुख्यतासे देखे गए ये जीव सब ज्ञानमय ही सिद्ध हुए हैं।

ज्ञानात्मक यह आत्मा कबसे उत्पन्न हुआ और कब यह नष्ट हो जायेगा—ऐसी उसमें सीमा और रेखा नहीं खिंच सकती है। अतः स्वभाव-दृष्टिसे ज्ञात हुए समस्त जीव जन्म और मरणसे रहित हैं। नवीन शरीरके संयोगका नाम जन्म है और पाये हुए शरीरके वियोगका नाम मरण है, पर जीवके स्वरूपमें शरीर ही नहीं है। तो शरीरके संयोगरूप जन्मको कैसे देखा जायेगा और शरीरके वियोगरूप मरण को कैसे देखा जायेगा? यों समस्त जीव जन्म और मरणसे रहित हैं। सर्वजीव अपने प्रदेशसे समान हैं। प्रदेश गुणविस्तारका नाम है। गुणका सद्भाव जहां है, वही प्रदेश कहलाता है। जीव अभेददृष्टिसे एक अखण्डप्रदेशी है और भेददृष्टिसे सब असंख्यात प्रदेशी हैं, उनका यह असंख्यातप्रदेशत्व और अखंडप्रदेशत्व कहीं अन्य नहीं है। जीवके अंतःस्वरूपको देखकर यह सब प्रकरण लगाना है।

भैया! ज्यों ही अंतःस्वरूपकी दृष्टि छोड़कर बाह्यस्वरूपमें आते हैं तब वहां सब भिन्न-भिन्न नजर आते ही हैं। कोई जीव एक हजार योजनका लम्बा है, कोई जीव अंगुलके असंख्यातमें भागप्रमाण छोटा है, पर जीवके स्वरूपको, गुणाश्रयको दृष्टिमें रखकर निरखा जाये तो सभी जीव असंख्यात प्रदेशी और अखंडप्रदेशी हैं। जीव अपने प्रदेशसे सब समान हैं। इसी प्रकार सब जीव अपने गुणोंसे भी समान हैं। ज्ञानादिक जो गुण, जितना गुण, जैसा गुण एकमें है वह ही गुण, उतना ही गुण, वैसा गुण सर्व जीवोंमें है। इस दृष्टिमें भव्य और अभव्यका भी भेद नहीं है। भव्य भी उतना ही

अनन्तगुणात्मक है और अभव्य भी उतना ही अनन्तगुणात्मक है। वस्तु दोनों जगह एक हैं। यदि उनके गुणोंमें अन्तर होता तो द्रव्यकी जातियां ६ न बताकर ७ बतायी जातीं। द्रव्यकी जातियां ६ हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक जातिके परिणमन परस्परमें पूर्ण समान हैं, यों कहना संग्रहनयसे सभी जीवोंमें है—ऐसा इस दोहेमें प्रतिपादन किया जा रहा है।

यहां यह बतला रहे हैं कि शुद्ध निश्चयनयसे, संग्रहनयसे सब जीव एक समान हैं। जीवके स्वभावको देखो तो किसी जीवका किसी जीवसे कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि इस समय व्यवहारदृष्टिसे केवलज्ञान केवल ज्ञानावरणसे ढका हुआ है। कैसा केवलज्ञान जो कि व्यवहारसे तो लोक और अलोकका जाननहार है और निश्चयसे निज शुद्ध आत्माका ग्रहण करने वाला है—ऐसा केवलज्ञान यद्यपि संसारीजीवमें केवलज्ञानावरणसे ढका हुआ है, यह भी शुद्ध निश्चयनयसे उसके आवरणका अभाव होने से याने स्वभावको देखा जाये तो सब जीवोंका स्वभाव केवलज्ञानसे रचा हुआ है। इस कारण सर्वजीव ज्ञानमय ही जानने चाहिएं। नय दो होते हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। व्यवहारनयका तात्पर्य है कि दो पदार्थों पर शुद्धदृष्टि देना और निश्चयनयका तात्पर्य है एक ही द्रव्यपर दृष्टि रखना।

भैया ! जब यह कहा जाये कि केवलज्ञानको केवलज्ञानावरणने ढक लिया है तो यह व्यवहारनय हो गया। क्योंकि दो चीजोंका वर्णन किया गया (१) केवलज्ञान और (२) केवलज्ञानावरण। और दो का सम्बन्ध बताना यह व्यवहारनय हो गया। जहां यह कहा जायेगा कि जीवोंमें अपनी योग्यता से वह केवलज्ञानसे वंचित हैं और अल्पज्ञानसे सहित है तो इसे निश्चय-नयका मन्तव्य कहा जायेगा, क्योंकि इसमें दो द्रव्योंको नहीं छुवा गया है। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि केवलज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, लोक और अलोकको जानता है तो ऐसा कहनेमें चूंकि दो चीजों को देखा—केवलज्ञान और सारी दुनियां। इसका सम्बन्ध बनाना है तो ऐसा कहना व्यवहारनयसे हुआ। और जब यह कहा जायेगा कि केवलज्ञान तो निज शुद्ध आत्माको ग्रहण करता है, ऐसा अपने आपको जानता है तो यह कथन निश्चयनयका हो जायेगा, ऐसी बात उन्हींके लिए नहीं कही गई है। अपने लिये भी यही बात है। हमारा आपका ज्ञान जितना जो कुछ है, वह बाहरी चीजोंको जानता है—ऐसा कहना व्यवहारनयका काम हुआ, क्योंकि इसमें दो चीजें देखी गईं—(१) अपना ज्ञान और (२) ये सारे बाहरी पदार्थ। सो यह व्यवहार हो गया, व्यवहारमें दो चीजें देखी जाती हैं। और ऐसा कहना कि जिस किसी प्रकारके आकारमें परिणमा हो तो ज्ञेयाकार परिणत

भी यह आत्मा हुआ, इस आत्माको ही हमारे ज्ञानने जाना, यह निश्चयनय का कथन है क्योंकि जिसकी चर्चा कर रहे हैं उससे भिन्न दूसरे पदार्थको नहीं देखा। हमारे ज्ञानको ज्ञानावरणने ढका है या ज्ञानावरणके क्षयोपशम प्रकट होता है ऐसा कहना यह व्यवहारनयसे हुआ, क्योंकि यहां भी दो चीजों का मेल किया है। और यह कहना कि मेरे ज्ञानने अपनी योग्यता माफिक अपना कार्य किया, यह निश्चयनयका कथन हुआ।

यद्यपि संसारके समस्त जीव कर्मोंसे आवृत्त हैं, उनका ज्ञान केवलज्ञानावरणसे ढका हुआ है तो भी शुद्ध निश्चयनयसे देखा तो ज्ञानको देखा, तो उस ज्ञानमें ज्ञान दीखा। अतः सर्वजीव ज्ञानमय हैं। ज्ञानीका लक्षण क्या है? इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि जो सर्वजीवोंको एक समान जान सकता हो, उसको ही ज्ञानी कहते हैं। सर्वजीव जन्म और मरणसे मुक्त हैं, ऐसा ज्ञानी देख रहा है। ऐसा देखते हुएमें ज्ञानी शरीरको नहीं जान रहा है, किन्तु ज्ञानमय जीव पर दृष्टि देकर समझ रहा है कि सर्व जीव जन्म और मरणसे मुक्त हैं। यद्यपि व्यवहारनयसे ये संसारी जीव जन्म और मरणसे सहित हैं तो भी निश्चयसे वीतराग निजानन्द एक सुखरूप अमूर्तमय होनेके कारण अनादि और अनिधन होनेके कारण उनमें कर्मोंका उदय नहीं देखा जाता है। वह शुद्ध आत्मस्वरूपमय हैं और ये कर्म शुद्ध आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं।

आत्माका स्वभाव अनादि अनन्त है, जन्म मरणसे मुक्त है और कर्मों की प्रकृति, जन्म और मरणको रचने वाला है। इस आत्मामें कर्मोंके उदय का अभाव है। इस कारण सर्वजीव जन्म और मरणसे मुक्त हैं। यह बात निश्चयनयसे देखी जा रही है। जिस दृष्टिमें सब जीवोंका स्वभाव ही स्वभाव देखा जा रहा हो उस दृष्टिमें कहा गया है कि सर्व जीव जन्म और मरणसे रहित हैं। ज्ञानी जीव समस्त जीवोंको किन-किन उपायोंसे एक समान देख रहा है? उनका यह प्रकरण है। ये जीव लक्षणसे समान हैं। यद्यपि संसार अवस्थामें व्यवहारनयसे संकोच और विस्तार होता है, इस कारण ये जीव सब देहमात्र हो रहे हैं, देहप्रमाण हो रहे हैं। जो जितनी देहमें है वह जीव उतनेमें फैला हुआ है। चींटीका जीव चींटीके शरीरके बराबर है, हाथीका जीव हाथीके शरीरके बराबर है, तो भी सर्वत्र जीवस्वरूप वही है। जीवके स्वरूप पर दृष्टि दें तो जीव वही है, सर्व समान है, पर जीवसे भिन्न ऐसी चीजोंके संयोग पर दृष्टि दें तो यह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

सो भैया! यद्यपि संसार-अवस्थामें यह जीव देहप्रमाण है और मुक्त-अवस्थामें जिस शरीरसे वह मुक्त होता है उस शरीरप्रमाण है अथवा उस

शरीरसे किंचित् न्यून प्रमाण है तो भी निश्चयनयसे सर्वजीव लोकाकाशके प्रदेशके बराबर असंख्यात् प्रदेश वाले हैं। यहां इस दृष्टिसे देखा जायगा कि यह जीव कदाचित् खूब फैले तो कितने तक फैल सकता है? सर्वलोकमें यह एक जीव फैल सकता है। जब केवली अरहंत भगवान्‌की आयु थोड़ी रह जाती है और बाकीके तीन अघातिया कर्म अधिक स्थितिके होते हैं तो अरहंत जब मुक्त हो गए तो चारों अघातिया कर्म एक साथ क्षय होने चाहियें। ऐसा तो नहीं हो सकता कि केवली भगवान्‌के चार अघातिया कर्मोंमें से एक कर्म आज खिरा, एक आध कल खिरेगा। एक मिनटमें नहीं, एक सेकिण्डमें नहीं, बल्कि एक ही समयमें समस्त अघातिया कर्म दूर होते हैं। अब मान लो थोड़ा आयु कर्म हटा और अघातिया कर्म हैं हजार-हजार वर्षके तो कैसे क्षय हो? उस समय केवली भगवान्‌में केवली समुद्घात होता है। उसके केवलीसमुद्घातमें सर्वविश्वप्रमाण जीव विस्तृत हो जाता है।

केवली समुद्घातमें पहिले उनके प्रदेश नीचेसे ऊपर तक चौदह राजु-प्रमाण फैल जाते हैं, एक डंडासा बन जाता है क्योंकि पद्मासनसे बैठी हुई हालतमें व खडगासनमें जितना थोड़ा उनका शरीर रह सकता है उतनी चौड़ाई से लेकर वह प्रदेश नीचेसे ऊपर तक फैल जाता है। फिर दूसरे समयमें अगल-बगलके प्रदेश वहां तक फैल जाते हैं जहां तक वातवलय नहीं मिलता। फिर आगे पीछेके प्रदेश वहां तक फैल जाते हैं जहां तक वातवलय नहीं मिलता। फिर वातवलयोंमें भी सर्व जगह वे प्रदेश फैल जाते हैं। उस समय लोकपूरण समुद्घात कहलाता है। उस समय यह जीव लोक बराबर महान् विस्तारका हो जाता है। जब एक जीवमें सर्वलोकमें फैलनेकी शक्ति पाई गई, और फैल गई, उतने प्रदेश विस्तारमें हो गया। ऐसे ही तो सर्व जीव हैं। चाहे निगोद हो, चाहे सिद्ध हो गया हो, जीवत्वद्रव्य तो सबमें एक समान हैं। तो इतने असंख्यात् प्रदेश प्रमाण सभी जीव हैं। सो सब जीव असंख्यातप्रदेशी हैं। उन असंख्यात् प्रदेशोंसे न कोई प्रदेश कम होता है और न कोई प्रदेश बढ़ता है। अपने-अपने प्रदेशोंके द्वारा सब जीव एक समान हैं। इस प्रकार ज्ञानी जीव सर्वजीवोंको एक समान देख रहा है।

सर्वजीव अपने-अपने गुणोंसे समान प्रमाणके हैं। अनन्त गुण जैसे एक जीवमें हैं वैसे ही उतने ही अनन्तगुण अन्य सब जीवोंमें हैं। यद्यपि व्यवहारसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख आदि अनन्त गुण हैं और वे संसारअवस्थामें कर्मोंसे दबे हुए हैं तो भी निश्चयसे तो कर्मोंका अभाव है अर्थात् निश्चयनय एक द्रव्यको देखता है। जब जीवोंको देख रहे हैं तो कर्मोंको नहीं देख रहे हैं। वहां जीव ही जीव हैं। तो इस निश्चयनय

की दृष्टिसे सर्वजीव अपने गुणोंमें एक प्रमाण हैं।

इस प्रकार इस दोहेमें जो शुद्ध आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है, वही शुद्ध आत्मस्वरूप उपादेय है– ऐसी इस दोहेसे शिक्षा लेना है। अब इस कथनके बाद जीवका ज्ञान और दर्शन क्या होता है? उसका लक्षण कहते हैं।

जीवहँ लक्खण जिणवरहि भासिउ दंसणणाणु।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु ॥ ९८ ॥

जीवका लक्षण जिनेन्द्रदेवने दर्शन और ज्ञान कहा है; प्रतिभास, प्रकाश कहा है। जानन और देखनकी वृत्ति जिसमें पाई जाय उसको जीव कहते हैं। इस कारण उन जीवोंमें भेद मत करो। प्रत्येक जीवमें ज्ञान और दर्शन एक समान मौजूद हैं। यदि मनमें ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है तो तू सर्वजीवोंको एक समान मान। यद्यपि व्यवहारनयसे संसारअवस्थामें मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान आदिक प्रकारसे जीवोंका लक्षण किया जाता है अथवा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन आदिकसे जीवका लक्षण देखा जाता है तो भी निश्चयसे केवलदर्शन और केवलज्ञानके जीव का लक्षण कहा गया है। तुम उन भेदोंको मत देखो, किन्तु ज्ञानके भेदमें पर्यायोंमें जो एक सामान्यतत्त्व ज्ञान है, ज्ञानसे उस ज्ञानको देखो। जीवका लक्षण केवल ज्ञान है न कि भेदरूप ज्ञान। इसी प्रकार जीवका लक्षण केवल दर्शन है न कि चक्षुदर्शन आदिकरूपसे भेदरूप दर्शन ऐसा— जिनेश्वर देव ने कहा है। इस कारणसे व्यवहारनयसे देहका भेद होने पर भी केवलज्ञान केवलदर्शनरूप निश्चयलक्षणसे उन जीवोंमें भेद नहीं किया जाता।

सो कहते हैं भैया! यदि मन ज्ञानसे ओतप्रोत हुआ हो, तुम्हारे मनमें वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ हो अर्थात् प्रभात समय हुआ हो तो तू ऐसा ही देख कि सर्वजीव ज्ञान और दर्शन एक समान हैं। यद्यपि सोलह वाने ताप हुए सोनेका स्वर्णत्व लक्षण बहुतसे स्वर्णोंके मध्यमें समान है तो भी एकस्वभावी स्वर्णके ग्रहण करने पर समस्त स्वर्ण एक साथ नहीं आ जाते, क्योंकि वे सब भिन्न-भिन्न प्रदेशी हैं। जैसे कि स्वर्णत्व सबमें समान है तो भी क्या किसी एक डलीको पकड़नेसे स्वर्ण की सारी डलियां खिचती हुई चली आती हैं? नहीं आती हैं। वे भिन्न-भिन्न हैं, उनमें स्वर्णत्व समान है। प्रदेश तो भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार केवलज्ञान केवलदर्शनका लक्षण सर्वजीवोंमें समान है, तो भी क्या किसी एक जीवको पृथक् करने पर, अलग होने पर, कहीं जाने पर क्या उसके साथ जीव खिंचे फिरते हैं? यहां यह बताया है कि जीव अनन्त हैं, एक

नहीं है। जातिकी अपेक्षा सर्वजीवोंमें एकत्व बताते हैं। यदि सर्वजीव एक ही हों तो किसी भी जीवके खैंच लेने पर या कहीं जाने पर सब खिंचे-खिंचें फिरने चाहियें थे, लेकिन ऐसा नहीं होता है। कारण यह है कि सर्वजीवोंके प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण यह जाना जाता है कि यद्यपि केवलज्ञान और केवलदर्शनसे सर्वजीव समान हैं तो भी उन सब जीवोंमें प्रदेशभेद है।

यदि सब एक जीव होते तो एक जीव सुखी होता है तो सब जीवों को उसके साथ सुखी हो जाना चाहिए था। कोई जीव दुःखी होता है तो सर्व का परिणमन दुःखरूप होना चाहिए था पर यह भावात्मक परिणमन भी भिन्न भिन्न देखा जाता है और एकके साथ दूसरा जाता हुआ नहीं देखा जाता है। इस कारण यह निश्चय करो कि लक्षणकी अपेक्षा यद्यपि समान हैं तो भी उनका अस्तित्व, उनका प्रदेश भिन्न-भिन्न ही है। अब उन समस्त आत्मावोंको जीवजातिकी अपेक्षा एक कहा गया है- ऐसा वर्णन करते हैं।

बंभहँ भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति।
ते परमप्पपयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥ ६६ ॥

लोकमें बसते हुए ब्रह्मजीवका जो भेद नहीं करता है अर्थात् शुद्ध संग्रहनयकी दृष्टिसे सर्वजीवोंको एक समान देखता है वह परमात्माके प्रकाशको करने वाला होता है और निर्मल ब्रह्मस्वरूपको जानता है। जब जीवको सहजस्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाता है तो वहां किसी भी प्रकारसे भेद ज्ञात न होनेसे हे योगी! शुद्ध आत्माके स्वरूपको तू संशयसे रहित होकर ऐसा ही जान कि सर्वजीव केवलज्ञान प्रतिभासस्वरूपसे रचे हुए हैं। यद्यपि जीवराशिकी अपेक्षा उन जीवोंमें एकत्व बताया जाता है तो भी व्यक्तिकी अपेक्षा सब जीवोंके भिन्न-भिन्न प्रदेश हैं। जैसे नगर कहो तो नगरके कहनेसे एकका ग्रहण हुआ, किन्तु उस नगरमें भिन्न-भिन्न अनेक घर हैं। इसी प्रकार जीव कहो तो जीव कहनेसे सिर्फ एक जीवस्वरूपका ग्रहण हुआ, मगर प्रदेशभेद है, इस कारण सब जीव पृथक-पृथक हैं।

जब व्यवहारनयसे जीवको पृथक्-पृथक् देखा जा रहा हो तो उस समय कहना चाहिए कि यद्यपि ये समस्त जीव पृथक् पृथक् वृत्ति वाले हैं तो भी जातिकी अपेक्षासे उन सब जीवोंमें एकत्व पाया जाता है। इसी प्रकार जब सर्वजीवोंको उनके लक्षण से एक समय निरखें, उस समय यों कथन होगा कि यद्यपि निश्चयसे सर्वजीव गुणों करके एक समान हैं तो भी व्यक्तिकी अपेक्षा चूंकि उनके प्रदेश न्यारे-न्यारे हैं, उनके अनुभवन जुदे-जुदे हैं, इस कारण अनेक हैं। इस प्रकार अनन्त जीवोंमें एकत्व स्थापित

करनेका यह मुख्यतया सिद्धान्त बताया जाता है और यहां ज्ञानी पुरुष उसको कहा गया है जो सब जीवोंको एक समान देख सकता है। यों सर्व-जीवोंमें समताका वर्णन सुनकर यहां कोई जिज्ञासु पुरुष एक प्रश्न करता है जो प्रश्न अवसरके बहुत योग्य हैं और इसका समाधान भी यहां किया जायेगा। यह प्रश्नोत्तर कलके दिन कहा जायेगा।

यहां यह शंका की जा रही है कि जैसे एक ही चन्द्रमा बहुतसे पानी वाले बर्तनोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे दिख जाता है, इसी प्रकार एक ही जीव बहुतसे शरीरोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे देखा जाता है। ऐसा हम मानते हैं। ऐसा एक प्रश्न है। इस शंकाका अभिप्राय यह है कि एक ही जीव एक ही समयमें भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न दिख जाता है, ऐसा अन्य मन्तव्यका प्रश्न है ब्रह्मवादका। जितना मंतव्य है वह किसी न किसी आधार को लेकर उठता है, किन्तु जिस दृष्टिसे तथ्य है उस दृष्टिको छोड़ दिया तो फिर गलत होता है। कोई मंतव्य ऐसा नहीं जो मूलसे गलत हो। चाहे ईश्वरवाद हो, चाहे ब्रह्मवाद हो, चाहे क्षणिकवाद हो, कोई मूलसे निराधार हो और बन गया हो--ऐसा नहीं है, आखिर वे भी ऋषिजन थे, बुद्धिमान् थे। उन्होंने अपने विवेकसे काम किया है। यहां यह मंतव्य है कि एक ही जीव एक ही समयमें दिख जाता है। यह मंतव्य निकला कहांसे ? पहिले इस पर विचार करो।

जैनसिद्धान्तके अनुसार जीवके बारेमें चार दृष्टियोंसे निरखना होता है—बहिरात्मत्व, अंतरात्मत्व, परमात्मत्व और आत्मत्व। जो बाहरी पदार्थों में अपनी बुद्धि लगाये, यह मैं हूं, वह बहिरात्मा है और अपने आपके निज आत्मस्वरूपमें यह प्रतीति करे कि यह मैं आत्मा हूं, वह अंतरात्मा हुआ। और जो निर्दोष बन गया है उसका नाम परमात्मा है और समस्त आत्मावों में रहने वाला जो चैतन्यस्वरूप है, केवल स्वरूपमें स्वरूपकी दृष्टिसे निरखा जाता है वह आत्मत्व है। जब आत्मत्वकी दृष्टिसे देखते हैं तो उसमें व्यक्तियां नजर नहीं आतीं। जैसे १० बर्तनोंमें पानी रखा है, उसके नापकी दृष्टिसे देखें तो १० जगह नजर आयेगा, पर जलका स्वभाव कैसा है, मात्र स्वभावकी दृष्टिसे देखें तो १० जगह पिण्डोंमें रखा हुआ नजर न आयेगा। केवल स्वभावमात्र दृष्टिमें है। इस प्रकार जब आत्माको अन्य-अन्य विशेष-तावों से देखा जायेगा तो भिन्न-भिन्न आत्मा नजर आता है। भिन्न-भिन्न आत्मावोंमें आत्माको ही जब देखते हैं, तो स्वरूप चूंकि सबमें समान है, उस दृष्टिसे आत्मा एक साबित हुआ स्वरूप दृष्टिसे, स्वभावदृष्टिसे।

अब इस सिद्धान्तके मन्तव्यमें दो दृष्टियोंका मेल किया गया है।

स्वभावदृष्टि और व्यक्ति। दोनों मिला करके फिर यह बताया है कि एक ही जीव बहुत शरीरोंमें भिन्न-भिन्न नजर आता है और यथार्थमें यह बात है कि आत्मस्वरूप तो एक है और आत्मा अनेक हैं। सो वह स्वरूप जाति-अपेक्षा एक है। भिन्न-भिन्न आत्मावोंमें उन उनका निजी-निजी स्वरूप है, किन्तु जैसे बहुतसी गायें हैं और उन सबको एक गाय शब्दसे कह दिया तो वह जातिकी अपेक्षा है। जातिकी गाय दूध नहीं देती है, व्यक्तिगत गाय दूध देती है। अर्थ क्रियाजातिमें नहीं उत्पन्न होती है, अर्थ क्रियावस्तुमें उत्पन्न होती है। अब उस दृष्टान्त का तथ्य देखिये—बहुतसे जल वाले घड़ों में चन्द्रमाकी किरणोंकी उपाधिके वशसे जलमें चन्द्राकार प्रतिबिम्ब, जो जलका परिणमन है दृष्ट होता है, पर चन्द्रमा उनमें परिणत नहीं होता। दसों घड़ोंमें रखा हुआ पानी स्वयं ऐसी योग्यता रखता है कि अपने सामने रहने वाले पदार्थका निमित्त पाकर वह तदाकाररूप परिणम जाता है। तो सामने आया वह एक ही चन्द्रमा, पर प्रतिबिम्ब पड़े दसों जगह, तो उन दसों कलशोंके पानीने स्वयं ही अपने आप परिणमन किया है, वह चन्द्रमा उन सबमें नहीं चला गया है और ऐसा स्वतंत्रपरिणमन सर्वपदार्थोंमें मौजूद है, पर जितना विभावपरिणमन होता है वह किसी परका निमित्त पाकर ही होता है।

हम जब भगवान्की उपासना करते हैं तो हम भगवानमें नहीं चले जायेंगे, भगवान् हममें नहीं चले आते, किन्तु भगवान्के स्वरूपको विषय बनाकर हम अपना ही ज्ञान उस प्रकारका बनाते हैं, जिसे हम कहते हैं कि हमने भगवान्की पूजा की। कोई निश्चयसे भगवान्की पूजा नहीं कर सकता है, जो करता है वह अपनी पूजा करता है। भगवान्के बारेमें जैसा ध्यान बनाया, उस ध्यानरूप परिणमें हुए हम अपने आपको प्रसन्न किया करते हैं। तो वस्तुतः सर्वत्र हम अपने आपका परिणमन करते हैं, दूसरेका परिणमन नहीं करते हैं। घर कुटुम्बमें कहते हैं कि यह अमुकपर बहुत प्रेम करता है, पर कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुषपर प्रेम कर ही नहीं सकता है, क्योंकि प्रेम है चारित्रगुणका विकाररूप परिणमन। जो प्रेम करने वाला पुरुष है प्रेमपर्याय उसही पुरुषमें समाप्त होती है। वह प्रेम परिणमन उस पुरुषके प्रदेशोंको छोड़कर नगरमें नहीं जाता है, पर उस प्रेमपरिणमनका विषयभूत कोई न कोई अन्य पदार्थ होता है। तो जो अन्य पदार्थ प्रेम-परिणमनका विषयभूत होता है उसमें हम उपचारसे यह कहते हैं कि अमुक ने अमुक पर प्रेम किया।

भैया ! कोई पदार्थ अपने गुणोंको छोड़कर, अपने परिणमनको छोड़

कर किसी अन्यके गुणरूप, परिणमनरूप नहीं बनता है। तो प्रथम तो उनका दृष्टान्त ही गलत है जो कहा था कि एक चन्द्रमा दस जल-घटोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे दिख जाता है, यह दृष्टान्त युक्त नहीं है क्योंकि वहां चन्द्रमा देखा ही नहीं जा रहा है। वहां तो वह स्वयं कलशस्थ जल जो चन्द्राकाररूप परिणम गया है वह देखा जा रहा है तो वह जितना है उतना देखा जा रहा है। इस कारण वह दृष्टान्त इसके योग्य नहीं बैठता है। इसमें एक दृष्टान्त और दिया— जैसे देवदत्त नामक पुरुषके मुखका निमित्त पाकर नाना दर्पण नाना मुखाकाररूपसे परिणम जाता है, किन्तु देवदत्त तो उतने रूप परिणमा नहीं। सामने ५-६ दर्पण रख लिये तो सभी हमारे मुखरूप परिणम गए, पर वहां ऐसा नहीं है कि सभी दर्पणोंमें हमारा मुख पहुंच गया हो। वहां जो दर्पण मुखाकार परिणत हैं, वे दर्पण स्वयं मुखाकार दीख रहे हैं। यह मुख नानारूप नहीं परिणम गया। यदि पुरुष नानारूप परिणम जाय तो दर्पण में रहने वाला जो मुख प्रतिबिम्ब है वह चेतन बन जायगा। मेरा मुख यदि उन सब दर्पणोंमें चला गया है तो वे सब दर्पणके मुख चेतन बन जायेंगे, किन्तु ऐसा है नहीं। इस प्रकार एक चन्द्रमा नानारूप नहीं परिणमता है, किन्तु एक चन्द्रमाका निमित्त पाकर वे दसों जलकलश चन्द्रमारूप परिणत होते हैं।

यहां सिद्धान्त यह लेना कि कोई एक ब्रह्म नामका कुछ है नहीं, जो चन्द्रमाकी तरह वह नाना रूपसे परिणमता हो। अब यह बतलाते हैं कि सर्व-जीवोंके विषयमें अगर समदर्शिता आ जाय तो मुक्तिका कारण होता है।

रायदोसवे परिहरिवि जे सम जीव णियंति।
ते समभावपरिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ॥ १०० ॥

जो राग और द्वेषको दूर करके सब जीवोंको समान जानता है वह साधु समतापरिणाममें ठहरता हुआ शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होता है। सब जीवोंमें स्वभावदृष्टि करके समतापरिणाम देखनेसे खुदका अनुभव होता है, क्योंकि सब जीवोंका आश्रय तो जरूर लिया, परन्तु उन सब जीवोंमें जो चैतन्यस्वरूप निरखा है उस निरखनेमें सब जीवोंका आश्रय छूट जाता है और एक अपना ही आश्रय रहता है। दूसरे जीवका आश्रय कब तक रहता है जब तक हम उनके प्रदेश जीवोंके प्रदेश, जीवोंकी पर्याय, जीवोंकी दशा जब हम दृष्टिमें लें तो हमें दूसरे जीव नजर न आयेंगे। यदि हम जीवका स्वरूपमात्र दृष्टिमें लें तो हमें दूसरे जीव व्यक्तरूपसे नजर नहीं आ सकते। जब हम सब जीवोंमें उनके स्वभावको देखनेका यत्न करते हैं तो हम अपनी ओर ही आया करते हैं।

भगवान्‌की भक्तिका भी प्रयोजन अपनी ओर आना है, क्योंकि भगवान्‌का जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका जब हम परिचय करते हैं तो पर भगवान् हमारी दृष्टिमें न रहकर शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र अनुभवमें रहता है तो हम अपनी ओर आते हैं। जितने भी जैनसिद्धान्तके कथन हैं उन सब कथनों का प्रयोजन अपने आत्मस्वभावकी ओर आना है। जैसे तीन लोकका कथन है, तीनों लोकमें ऐसी-ऐसी जगह हैं, ऐसी नदियां हैं, ऐसे पर्वत हैं– ये सब बतानेका प्रयोजन यही है कि यह जीव जिस एक ज्ञायकस्वभावके परिचयके बिना ऐसे-ऐसे स्थानोंमें जन्म और मरण लेना है उस शरणतत्त्वका आश्रय करो। इन सब बातोंके बतानेका प्रयोजन यदि आत्माकी ओर आनेका न होता तो जैसे सोचा कि यह सिद्धशिला है, यह यह है, इससे कुछ आत्माका प्रयोजन नहीं निकलता है। आत्मस्वभावके ज्ञान बिना यह जीव ऐसी-ऐसी जगहोंमें उत्पन्न होता है, ऐसा ध्यान जगे और उस स्वभावको ग्रहण करनेका उत्साह जगे, जिससे ऐसे स्थानमें मेरी उत्पत्ति मत हो, सो उस स्वभावका आश्रय करनेका जो यत्न है, सोई तीन लोककी रचनावोंके बतानेका प्रयोजन है।

भैया ! इस जीवकी बड़ी-बड़ी अवगाहना बतायी जाती है। एक हजार योजनका मच्छ है, ऐसी-ऐसी अवगाहनाके जीव बताए जाते हैं। इसका भी प्रयोजन इतना ही है कि यह शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मा अपने स्वरूपको भूलनेके कारण ऐसे ही कर्मोंसे बंध जाता है, जिनके उदयमें यह जीव ऐसे-ऐसे भिन्न भिन्न शरीरोंमें जन्म लिया करता है। तो उस आत्मस्वभावकी स्मृतिके लिए इस जीवस्थानका वर्णन है। इस प्रकार जीवोंको स्वभावसे समान देखनेका प्रयोजन अपने आपके स्वभावकी ओर आना है। जब यह जीव विकल्पों को छोड़कर केवल ज्ञानप्रकाशको छूता है, अर्थात् अपने आपमें ऐसा अनुभव करता है कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, मैं मात्र ज्ञान ही करता हूं और ज्ञान ही भोगता हूं, मैं जिस प्रकारका ज्ञान करता हूं, उस ही प्रकारका भोगता हूं। ज्ञानके करने और भोगनेके सिवाय मैं और कुछ काम नहीं करता हूं, ऐसा ज्ञान करे तो इस पद्धतिसे आत्मस्वभावदृष्टि होती है।

वास्तवमें यह जीव बाह्यपदार्थोंको नहीं करता है, केवल बाह्यपदार्थ विषयक विकल्प बनाता है। ये बाह्यपदार्थ पुण्यके आधीन उदयके अनुसार स्वयमेव पैदा होते हैं। किसीको यह मालूम नहीं कि आज कहांसे कितना पैसा प्राप्त हो जायगा ? हां, कुछ निकट बात पर अनुमान हो जाता है, पर तुम्हारा पूर्ण अधिकार नहीं है, न जाने कैसी स्थिति है, बात बने अथवा न बने। जितना भी समागम होता है सब पुण्यके उदयके अनुसार है। अभी

एक महानुभावके विषयमें चर्चा चल रही थी कि कोई कितना ही यत्न करे, करोड़पति बन जाये और अपनी बुद्धिका घमंड रखे तो यह बुद्धिका काम नहीं है। बुद्धिका काम जानकारी है। जिन जीवों का जैसा उदय है उसके अनुसार वैसा होता चलता है, उस पर अधिकार नहीं है।

भैया! धन अधिक मिल जाने से ही लाभ नहीं है। धन विशेष मिल जानेसे केवल मौज मानी जा सकती है कि लोगों में हम यह कहलायें कि यह विशेष पुरुष है, करोड़पति हैं। केवल इतने कहने भरका मौज मान लिया, इसका आनन्द मानते हैं। इसके अतिरिक्त खुदकी आत्मामें उस विभावसे क्या हित होता है? सो आत्मामें हित नहीं मिलता। वैभवशाली पुरुष को भी जो हित मिलता है वह ज्ञानसे मिलता है, वैभवके कारण हित नहीं मिलता है। तो हित करने वाला तो ज्ञानस्वभाव ही है। हम बाह्य-पदार्थोंमें मात्र विकल्प करते हैं और उनका कुछ नहीं करते हैं। ऐसी ही दृष्टि अपने आपके बारेमें यदि आ जाये कि मैं तो केवल विकल्प ही किया करता हूं, बाह्यपदार्थोंका कुछ नहीं करता हूं तो इसके अपने इस एकत्वगत आत्माका स्पर्श हो सकता है।

मुनिजन वीतराग निजानन्द एकस्वरूप निज शुद्ध आत्मद्रव्यकी भावना किया करते हैं और इस भावनाके विपरीत रागादिक का परित्याग करते हैं। वे समस्त जीवोंको ज्ञानदर्शनस्वरूपकी ओरसे एक समान जानते हैं, वे ही पुरुष समभावमें स्थित हैं। उनके जीवन और मरण एक समान हैं। ये मनुष्य क्यों जीना चाहते हैं? केवल पर्यायबुद्धि करके ऐसा मान लिया कि मैं इस लोकमें कुछ हूं, मेरा लोकमें सम्मान है, इज्जत है-ऐसा जानकर अपनी इज्जत व अपने सम्मानसे मोह होता है, उसके कारण यह जीना चाहता है। उन सब समागमोंसे प्रीति होती है, जो समागम मिले हैं उन्हें छोड़ नहीं सकते हैं। इच्छासे जीना चाहते हैं, किन्तु जिस आत्माने जान लिया कि मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है और उस ज्ञानको ही कर पाता हूं, ज्ञानको ही भोग पाता हूं तो उसको इस लोकमें जीनेकी इच्छा न होगी। यहां रहें तो क्या, कहीं गए तो क्या, हम तो अपने आपमें ही हैं। ऐसे ज्ञानवाले मुनिजनोंको जीवन और मरण दोनों एक समान हो जाते हैं।

भैया! लाभ और अलाभ भी क्या किसी परवस्तुका लाभ हो गया तो क्या, न लाभ हो गया तो क्या? यह आत्मा तो प्रत्येक स्थितिमें सबसे न्यारा ज्ञानस्वरूपमात्र है। इस कारण लाभ और अलाभमें विषमता उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार सुख और दुःख हैं। वह ज्ञानी जानता है कि जीवका

स्वरूप ज्ञान है, सुख और दुःख करने के उदयकी छाया है। कर्मविपाकका निमित्त पाकर एक विरुद्धपरिणमन उत्पन्न होता है। ये परिणमन मेरे स्वभावके ऊपर ही तैरते हैं अर्थात् ये मेरा स्वभाव नहीं बन जाते। मैं तो ज्ञानस्वभावमात्र हूं—ऐसे अपने आपके स्वभावके ऊपर उनकी दृढ़ता होती है। इस कारण सुख और दुःख दोनों ही उनको एक समान मालूम देते हैं। जैसे वे सुखमें हास्य कर सकते हैं वैसे ही वे दुःखमें भी हास्य कर सकते हैं। कहते हैं कि विरुद्धपरिणमनको देख करके एक उपेक्षा भाव बने। सुख भी है, वह भी उपेक्षाके योग्य है; दुःख भी है वह भी उपेक्षाके योग्य है। मेरा स्वरूप न सुखरूप है, न दुःख रूप है, किन्तु आनन्दरूप है।

आत्मामें जैसे ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुण हैं, इसी प्रकार एक आनन्द नामका भी गुण है। उस आनन्द गुणकी तीन पर्यायें होती हैं—सुख, दुःख और आनन्द। सुख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे। ख मायने इन्द्रिय, सु मायने सुहावना जो इन्द्रियों को सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। सुख विकार परिणमन है। दुःख वह है जो इन्द्रियोंको बुरा लगे। यह दुःख भी विकारपरिणमन है और आनन्द, आत्मामें चारों ओरसे पूर्ण विकासरूप समृद्धि हो उसे आनन्द कहते हैं। यह आनन्द आत्माका स्वाभाविक परिणमन है। सुख और दुःख आत्माकी भावपरिणति है। वे मुनिजन सुख और दुःख दोनोंको समान तकते हैं। ये सुख दुःख आत्माके स्वभावसे नहीं उत्पन्न होते हैं। सुख और दुःख दोनों ही मेरेसे भिन्न हैं— ऐसा जानकर दोनोंमें उनके समतापरिणाम रहता है। समताके परिणामसे प्रतिष्ठित हुए ये मुनिजन शीघ्र ही अचिन्त्य, अद्भुत केवलज्ञान आदि गुण प्रकट करके निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इस व्याख्यानको जानकर हमें यह शिक्षा मिलती है कि रागद्वेषका त्याग करके निज शुद्धआत्माकी अनुभूतिरूप समतापरिणामकी भावना करनी चाहिए। हम किसी भी स्थितिमें हों, जैसे बड़े नेताजन जो पहिले हुए हैं गांधीजी वगैरह। उनके प्रोग्राम ये थे कि हम शासनकी भी स्थितिमें हों तो भी हम कुटीमें बैठकर न्याय करें। उन्होंने ऐसा प्रोग्राम इसलिए बनाया था कि जिससे देशकी जनता का ख्याल रहा करे। तो इसी तरह हम किसी भी स्थितिमें हों, हम उन सब स्थितियोंमें प्रथम केवल ज्ञानमात्र हैं, अगर हम ऐसी ज्ञानमात्र ज्योतिको लिया करें तो हमारा पुण्यसमागम सफल है। जब भी याद रहे तब यही यत्न करें, क्योंकि याद रहना बड़ा कठिन हो जाता है। विषयोंका प्रसंग है, परिग्रहका सम्बन्ध है, जगत्की व्यवस्था बनानेका मनमें संकल्प है, इसलिए इस ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपका ध्यान रहना बड़ा कठिन है,

किन्तु जिन्हें ज्ञान हो गया है वे किसी न किसी क्षण अपने को शुद्धज्ञान-मात्र अनुभव कर सकनेका अवसर पा लिया करते हैं। यदि हम अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करें अर्थात् समतापरिणामको बनाएं तो समतापरिणाम से ही मुझे शरण मिल सकती है। अब जो सर्वजीवोंमें सार है, कठिनता से पाया जाता है, ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शनके लक्षणको प्रकट करते हैं—

जीवहं दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि।
देहविभेएं भेउ तहं णाणिवि मण्णइ सो जि॥१०१॥

जीवोंका दर्शन ज्ञान निज लक्षण है। उनको जो कोई जानता है तो हे जीव! वही ज्ञानी पुरुष है। देहके भेदसे उनके भेदको वे क्या मान सकते हैं? अर्थात् नहीं मान सकते हैं। यह है परमार्थ उद्देश्य, मगर अभी और अधिक नहीं तो प्रेक्टिकल व्यावहारिक हममें कुछ ऐसा भाव उतरे कि हम अपने प्रसंगमें पड़ौसी हों, मित्रजन हों, कोई हों उनके प्रति अत्यन्तभेदका व्यवहार न रखें और हमारा तन, मन, धन, वचन अपने घरके लोगों पर जितना लगता है उतना तो समस्त जीवों पर भी हमारा तन, मन, धन, वचन लगना चाहिए। यदि हमारी सारी कमाई घरके कुटुम्बके लिए ही है तो सर्वजीवोंको समान कब निरखा? तराजूके एक पलड़ेमें घरके लोग रखें और एक पलड़ेमें संसारके समस्त जीव रखें, फिर भी परिवारके चार प्राणियोंका ही पलड़ा जिसका भारी रहे तो क्या वह ज्ञानी कहा जायेगा? कमसे कम संसारके समस्त जीवोंको अपने घरके चार छः प्राणियोंके बराबर तो मान लें। हम एकसा व्यवहार सब पर नहीं कर सकते हैं। गृहस्थावस्था है, जिम्मेदारी है, पर पूरी व्यवस्था और पूरा श्रम घरके लोगों पर ही हो तो निर्मोहता नहीं कही जा सकती है।

ज्ञान और दर्शनगुणकी अपेक्षा देखो सब जीव एक समान हैं। जिसे तुम अपना विरोधी मानते हो, कहो वही मरकर तुम्हारे घरमें पैदा हो जाये, लड़का या लड़की बन जाये तो अपना प्रिय मानने लगोगे और जिसे तुम अपना मानते हो, अपना लड़का या लड़की जानते हो, वही कहीं मरकर तुम्हारा पड़ौसी बन जाये, दूसरे का लड़का या लड़की बन जाये तो आप देखा करते हैं पर मोह नहीं पैदा होता है। तब फिर तुम्हारा है कौन? तुम्हारे जो मोह है वह उठा तो मोह करने लगे, मोह न उठा तो मोह न किया। लड़का या लड़कीसे कोई न तो मोह करता है और न द्वेष करता है। किसी को कोई अपना समझता है तो वह अपने परिणाम से समझता है। अपना कहीं कुछ नहीं है। तो जो जीव ज्ञानदर्शन लक्षणकी दृष्टिसे सब जीवोंको एक समान समझ रहा है वही समदर्शी है और वही कल्याणका

पात्र है ।

तो भैया! व्यावहारिक जीवनमें समय-समय पर इतना उतरना चाहिए कि मान लो दो हजारकी आमद है— उसमें से एक हजार हम घरके लोगों पर खर्च करते हैं तो एक हजार हम जगत्‌के और सब जीवोंके लिए खर्च करें। यदि जगत्‌के सब जीवोंकी तरह हमारी दृष्टि रहे तो हम समझें कि गड्ढेमें नहीं हैं, संभले हुए हैं। केवल घरके ही लोगों पर दृष्टि रहती है, घरके ही लोगोंसे राग रहना है तो हम बड़े अंधेरेमें हैं। एक चीज जरूर है कि एक दो जीवोंके प्रति राग किया जाय तो उस रागकी पुट गहरी होती है और यदि अपना राग हजारों जीवों पर बखेर दिया जाय तो रागका पुट हल्का हो जाता है। कोई यह कहे कि भाई हम तो दो आदमियोंमें राग करते हैं, सबको छोड़ दिया तब उनने तो विरक्त हो गये, सो बात नहीं है। जो एक पर राग करता है वह रागमें बढ़ गया है और जो जगत्‌के सैंकड़ों जीवों पर अपने रागको बिछा देता है उसका राग हल्का हो गया है। ज्ञान-दर्शन लक्षणके द्वारा जीवको देखें तो उसमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। इस बातको इस दोहेमें अब आगे बतायेंगे।

जीवको जानें तो जीवका जो सहज स्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टिसे जाना तो न भेद होता है, न मोह राग होता है किन्तु जीवके स्वरूपकी दृष्टिको भूल कर, उनके प्रदेश व्यक्तिपर्याय इनका ध्यान रखकर देखा तो वहां भेद भी होगा, मोह भी होगा, रागद्वेष भी होगा। यह ज्ञानदर्शन जो सब जीवोंमें समान है इस ज्ञानदर्शनका बड़ा प्रताप है, बड़ा विषय है। तीन लोक, तीन कालके सब द्रव्य, गुण पर्याय बिना व्यवधानके, बिना इन्द्रियके सबका परिच्छेदन करनेमें समर्थ हैं दर्शन और ज्ञान। ज्ञानका काम जानना है। अब इस जाननमें अपने जाननकी ओरसे ऐसा कैद नहीं हो सकता कि यह १० मीलकी ही जानें। क्यों जानें १० मीलकी ही? ज्ञान दौड़ कर नहीं जाता है। ज्ञान तो ज्ञानकी जगह रहता हुआ जानता है। अगर यह दौड़ कर जानता होता तो कह देते कि भाई जहां तक दौड़ लगायी वहां तक जाता, पर ज्ञान दौड़ कर नहीं जाता। ज्ञान-ज्ञानकी जगह रहता हुआ जानता है। तो ज्ञानका स्वभाव जानन है, तब यह कहा जाता है कि जो सत् हो उसे जानो। इसमें कैद नहीं है कि इतना पदार्थ जानें, इससे ज्यादा न जानें। उसमें यह जो सीमा मानी गई है यह आवरण कर्मोंका निमित्त है, पर अपने रससे, अपने स्वभावसे ज्ञानने ज्ञानसे जाना— ऐसे ज्ञानकी शक्ति सब जीवोंमें समान पायी जाती है।

हे जीव! तुम इस ज्ञानदर्शन लक्षणको जानो। जो ज्ञानदर्शन लक्षण

के द्वारा जीवोंको देखता है और शरीरके भेदसे भेद नहीं करता है वह ही जीव सम्यग्ज्ञानी है। यह जीवमें देहका भेद क्यों आ गया? इस जीवने देहसे उत्पन्न हुए विषय सुखको चाहा, सो शरीर मिलनेकी दवा यही है कि शरीरसे मोह करो, जीव और शरीरसे मुक्त होनेकी औषधि यह है कि शरीर से भिन्न अपनेको जानकर उससे उपेक्षा बनाए रहो। यद्यपि यह जीव देहमें बुरी तरह फंसा है, देहमें पीड़ा हो तो वेदनाकी पीड़ा भोगनेसे घबड़ा जाता है। देह जहां जाय वहां उसे जाना पड़ता है। सो देहका बन्धन बहुत विकट बन्धन है, इतने पर भी ज्ञानमें ऐसी कला है कि वह बन्धनको न निरखे, केवल अपने स्वरूपको निरखे तो निरख सकता है। ज्ञानके द्वारा अन्य-अन्य चीजों को निरखे- केवल अपने स्वरूपको देखे तो वह ज्ञानी अपने अन्तरमें अलौकिक आनन्दका अनुभव करता है। जो कभी भी न हो बस उस आनन्दकी अनुभूतिसे जो ज्ञानका स्वाद लिया, बस इस स्वरूपमें ही जो सब जीवोंको जानता है, वह वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानी है।

जो नाना जीवोंको नहीं मानते उनके यह एक बहुत बड़ा दोष है कि एक जीव यदि सर्वत्र है तो एक सुखी हो तो सबको सुखी होना चाहिए, क्योंकि एक जीव है, एक दुःखी हो तो सबको दुःखी होना चाहिए, किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्षमें नहीं दिखता। सबके सुख दुःख न्यारे-न्यारे हैं। एक जीव कैसे हुए? जीव तो हैं नाना, पर इन जीवोंका स्वरूप बिल्कुल एक समान है। स्वरूप दृष्टिसे तो भव्य और अभव्य इनका भी भेद नहीं है। इस स्वरूपसे जब देखते हैं तो जाति अपेक्षा एक है, पर अनुभवपरिणमन प्रदेशत्त्वकी अपेक्षा सब जीव नाना हैं। इस दोहेमें यह शिक्षा दी गई है कि यद्यपि जीव नाना हैं, देहोंके भेद हैं, पर्याय अलग-अलग हैं, इतने पर भी तुम यदि शान्ति चाहते हो तो देहके भेद पर दृष्टि न दो, पर्यायके भेद पर निगाह मत रखो, किन्तु एक जीवस्वभाव पर दृष्टि दो। जिस दृष्टिमें न कोई पुत्र है, न सेठ है, न दरिद्र है, न पंडित है, न प्रमाण है, न निक्षेप है, केवल एक स्वभाव ही स्वभाव अनुभव होता है, वह अनुभवकी दशा है।

अब जो जीव निश्चयनयसे देहके भेदसे जीवस्वभावको करता है वह वह जीवके दर्शन ज्ञान चारित्र लक्षणको ही नहीं जानता है। स्वभावदृष्टिसे भेद करते हैं तो वह जीवका स्वरूप नहीं है। यह आशय रखकर अब यह दोहा कहा जा रहा है।

देहविभेयहँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचित्तु।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणणाण चारित्तु ॥ १०२ ॥

जो पुरुष देहके भेदसे जीवमें नाना भेद करता है वह जीवके दर्शन

ज्ञान चारित्ररूप लक्षणको नहीं समझता। कितना आदर किया जा रहा है इस अद्वैतका और एकत्वका। जिसका ब्रह्मवादियोंने कितना वर्णन किया है उसका आदर जैनसिद्धान्तमें है। वेद उपनिषद्में जो भी कहा गया है उसका आदर मूलतः जैनसिद्धान्तमें है, किन्तु जिस दृष्टिसे सत्य है वह दृष्टि वहां न लगानी चाहिये। यथार्थ दृष्टि लगानेसे बात सत्य उतरती है और उसमें लाभ होता है, दृष्टिमें फर्क आ जाने पर उस ही दृष्टिसे लाभ नहीं मिलता है। जो पुरुष देहके भेदसे जीवके स्वरूपमें जाना करता है वह जीवका लक्षण ही नहीं जानता है। कहा जाता है ना किसीको देखकर कि आइए साहब, यहां आ जाइए, वहां आप क्यों खड़े हैं ? ऐसा जो नाना व्यवहार चलते हैं उनकी तो देह पर ही दृष्टि है, ये अमुक हैं, छोटे हैं, बड़े हैं, ठीक है, जब तक यह बात है तब तक देह पर दृष्टि है। देहभेद न हो तो उसके लिए स्वरूप सब एक समान है और जिस दृष्टिमें स्वरूपकी समानता दृष्टि होती है वहां समाधि समतापरिणाम होता है।

भैया ! ये देहके भेद क्यों हो गए कि भिन्न-भिन्न जातिके कर्मोंका उदय है इसलिए भेद हो गये। एक ही तरहके स्वरूप वाले जीव और देखो तो कोई पत्ता बना, कोई फूल बना, कोई कीड़ा बना, कोई मनुष्य बना, कोई पशु बना, कोई पक्षी बना, कितनी तरहके जीव हैं ? कितनी तरहके जलचर हैं ? कितना भेद पड़ गया है और एक स्वरूप वाले जीव हैं। तो इससे जानों कि जब जीव बिगड़ा हुआ होता है तो उसमें कितनी तरहके परिणमन होते हैं। पहिले इस जीवके नाना कर्मोंका बंध हुआ, फिर वे नाना देह मिले। अनेक प्रकारकी देह हैं। इस जीवके ख्याति, पूजा, लाभ— ये ही परिणाम हैं जो कि जीवके गंदे परिणाम हैं और गंदे भवकी प्राप्तिके कारण हैं। ऊंचा भव पानेके बाद भी जो अपध्यान सताता है वह अपध्यान है ख्याति, पूजा और लाभ। नामकी चाह और धनकी चाह, इन दोनोंमें नामकी चाह ता बिल्कुल व्यर्थ है। धनसे तो कुछ काम भी चलता है, भोजन करना, आरामसे रहना, दूसरोंकी सेवा शुश्रूषा आदि करना। तो धन कदाचित किसी अवस्थामें कुछ उपयोगमें आता है, लेकिन नामकी चाह यह कहीं भी उपयोग वाली चीज नहीं है। यह बहुत अपध्यानकी बात है।

ख्याति, पूजामें इतना अन्तर है कि ख्यातिका भाव है कि नाम प्रसिद्ध हो जाय, पूजाका अर्थ है लोग मुझे पूजें। इस तरह ख्याति और पूजाके ये परिणाम रहते हैं। लोग सन्मान करें, सत्कार करें, यह परिणाम होता है देहकी ममतासे। देहसे ममत्व है तब तो नाम चाहते हैं। हमारी मूर्ति बने, हमारा फोटो बने अथवा नाम प्रसिद्ध हो-- इस प्रकारके जो

परिणाम होते हैं वे देहसे ममताके ही तो होते हैं, नहीं तो नहीं होते हैं। जहां जाना कि यह तो मैं ज्ञानस्वरूप हूं, तो अब समझ लीजिए कि यदि सब पुरुषोंका नाम एक ही रह जाये-जैसे मानलो सबका नाम घसीटेमल हो तो कौन चाहेगा कि मैं अपना नाम खुदवाऊं। यह कमरा घसीटेमल ने बनवाया है--ऐसा कहने से तो काम न बनेगा। एक नाम यदि सारे मनुष्योंका हो जाये तो फिर किसीको यह चाह न होगी कि मेरा नाम लिखा जाये।

सबका नाम एक हो जाये—इसका अर्थ है कि किसी का कोई नाम ही नहीं है, सो ज्ञानस्वरूपको देखते हैं और तन्मात्र ही मैं हूं, ऐसा अपने आपमें निर्णय करते हैं तो यह मानना चाहिए कि जो मेरा नाम है वास्तवमें सोई सबका नाम है अर्थात् न मेरा नाम है न किसीका नाम है। एक चैतन्यमात्र द्रव्य है। स्वरूपकी दृष्टि हो तो ख्याति, पूजा, लाभ—ये अपध्यान नहीं उत्पन्न हो सकते हैं। जो देहके ममत्वकी मूलसे इच्छा होती है ऐसा जो अपध्यान है—ख्याति, पूजा, लाभ रूप जो अपध्यान है, उन अपध्यानों से विपरीत जो शुद्ध आत्माका ध्यान है, ऐसी जब शुद्ध आत्माकी भावना नहीं रहती है तो ऐसे कर्मोंका बंध होता है कि जो कर्मोंके उदयसे ये अनगिनते प्रभुके देहोंके भेद हो जाते हैं।

वनस्पति को ही देखो—कोई पत्ता है, कोई फूल है, कोई पेड़ है, कितनी तरहकी हो गई है? है यह जीव एक ही चैतन्यज्ञायक। तो उसके बंधनमें जो पर्याय मिली है वह कितनी प्रकारकी है? ये नाना प्रकारकी पर्यायें यह सिद्ध करती हैं कि जब यह ईश्वर जीव बिगड़ता है तो अनेक प्रकारके यह विपरीत परिणाम बनाता है। यदि ऐसे देहके भेदसे जो जीवमें भेद करता है उसने जीवका लक्षण कहां जान पाया?

इस दोहेमें यह बात बतलाते हैं शिक्षाके लिए कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र है लक्षण जिसका, ऐसा जीवमें यथार्थस्वरूप देखो, देहभेद देखकर रागद्वेष न करो। कौन अपना शत्रु है, कौन अपना मित्र है, कौन अपना विरोधी है और कौन अपना हितू है? यह निश्चयनय की बात कही जा रही है। अगर कोई दूसरा हमारा हितू और शरण बनता है तो हमारा ही उदय अनुकूल हो तो बनता है, न अनुकूल हो तो नहीं बनता है। पुराणोंमें दृष्टांत भरे हैं सो ठीक है, पर अपने जीवनमें ही देखलो, जब तक उदय अनुकूल है तब तक बाहरसे परिकर और मित्र भी शरण मालूम होते

हैं, नहीं तो कोई नहीं है। और उदयका क्या विश्वास? यदि अपना परिणाम निर्मल रहे तो ठीक-ठीक रह सकते हैं और यदि अपना परिणाम ठीक न किया, सदाचारसे रहित हो गए तो परिणाम विपरीत हो जायेगा।

भैया! उदयका क्या विश्वास? कहो अभी बड़े हैं, कल कहो छोटे हो जायें; आज छोटे हैं, कल कहो बड़े हो जाएं। आज मनुष्य हैं, यदि अपने जीवनमें योग्य करनी नहीं होती है तो मरनेके बाद कहो एक दो समयमें ही कीड़ा हो जायें। एकदम निम्नगति हो सकती है। और किसीको दरिद्रता है, अनेक संकट हैं, उन संकटोंको सहन करके भी अपना आचरण ठीक रखे, अपना ज्ञान, अपना श्रद्धान् व्यवस्थित रखे तो मरणके बाद एक ही दो समय में ऋद्धिधारी देवता हो सकता है। सबसे बड़ा वैभव है अपना श्रद्धान ज्ञान और चारित्र व्यवस्थित रखना। तीन लोक की सम्पदा मूल्य कुछ नहीं रखती, यदि अपना सही ज्ञान श्रद्धान और चारित्र ठीक हो तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चांडाल आदि देह को देखकर रागद्वेष नहीं करना चाहिए। ये देहके जो भेद हैं एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक पहिले तो ५ श्रेणियोंमें रख लिया, फिर एकेन्द्रियमें पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। फिर वनस्पतिकायके २ भेद किये—एक साधारणवनस्पति और एक प्रत्येकवनस्पति। साधारणवनस्पतिका नाम निगोद है। यद्यपि रूढ़िमें यह शब्द प्रचलित होता है कि आलू वगैरह साधारण वनस्पति हैं पर वह है प्रत्येकवनस्पति और जो खाने योग्य क्षेम आदिक हैं, वे साधारण-रहित प्रत्येकवनस्पति हैं। तो यों वनस्पतिका भेद है।

अब त्रसमें दो इन्द्रियके शरीरको देखो। कोई कितना पतला है, किसीका शरीर स्थूल है, कितनी तरहके दो इन्द्रियके जीव हैं? तीन इन्द्रिय में छोटे बड़े बिच्छू वगैरह कितने तरहके जीव हैं। इसी प्रकार चौ इन्द्रियमें कितनी तरहके जीव हैं, पचेंन्द्रियमें कितनी तरहके जीव हैं, पशु कितनी ही तरहके हैं, तिर्यञ्च कितनी ही तरहके हैं? ये सब नाना भेद हैं। इस जीवके अपध्यान आदि नाना परिणामोंके निमित्तसे कर्मबंध होता है उन कर्मोंके उदयके होने पर होते हैं। हे ज्ञानी जीव, हे कल्याणार्थी जीव! तुम इन देहोंके भेदकों देख करके रागद्वेष मत करो। अब यह बतलाते हैं कि ये शरीर बादर और सूक्ष्म जो होते हैं वे कर्मवश होते हैं। ये स्वयं जीव नहीं है।

अंगइं सुहुमइं वादरहिं विहिवसि होंति जे वाल।
जिय पुणु सयलवि तित्तिडा सव्वत्थवि सय काल ॥१०३॥

सूक्ष्म और वादर शरीर तथा जो बाल, वृद्ध, तरुण आदि अवस्थाएं हैं वे कर्मवश होती हैं, वे जीव नहीं कहलाती हैं। जीव तो सब जगह सब कालमें उतने ही प्रमाण है, असंख्यात प्रदेश। बड़े लम्बे चौड़े आदिक रूप जीव नहीं हैं। जैसी उनकी देह दृष्ट होती है उस प्रकारके वे जीव नहीं हैं। जीवको तो केवल भावदृष्टिसे ही जाना जा सकता है। पदार्थोंके जाननेके यद्यपि उपाय चार हैं--द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्यका अर्थ है पिण्ड, क्षेत्रका अर्थ है उनका निजी विस्तार, कालका अर्थ है उनकी वर्तमान परिणति और भावका अर्थ है उनके गुण। तो जीवको जब हम पिण्डरूपसे देखते हैं तो अनुभवमें नहीं आ सकता है। जब हम विस्तारदृष्टिसे देखते हैं तो यद्यपि जीवकी कोई बात जानना तो जरूरी है, मगर उन अनुभवोंके उपाय वाला यह ज्ञान नहीं है। विविध ज्ञान है। जब जीवको हम जीवकी परिणतिसे देखते हैं तो अनुभवमें नहीं आता, किन्तु जीवको गुणकी दृष्टिसे देखते हैं तो जाननके आंगन तक आते हैं। यदि गुणोंके भेदको छोड़कर अभेदसे निहारते हैं तो जीवके अनुभवके पात्र हम हो पाते हैं।

जीवमें वादर और सूक्ष्म आदि नाना तरहके भेद नहीं हैं। अगर भेद की निगाहसे जीवको देखे तो वह ज्ञानी पुरुष नहीं है। सूक्ष्य और वादर जो जीवके देह होते हैं वे विधिवश होते हैं। शरीर उत्पन्न हुआ है पंचेन्द्रियके भोगोंकी इच्छासे। मूलभूत जो अपध्यान है वह अपध्यान क्या है—भोगकी इच्छा। निदानबंध समस्त अपध्यानोंकी जो जड़ है वह अन्तरमें पर्याय बुद्धि है, अपने आपके स्वार्थकी पूर्तिकी भावना है। जो कुछ जिसने अपना स्वार्थ माना है उसके कारण ये सब अपध्यान उत्पन्न होते हैं। उन अपध्यानों से बाहर जो निज शुद्ध आत्मभावना है जब यह न रही, अपने आपके सत्त्व के कारण जो स्वरूप हो सकता है उस स्वरूप रूप अपने आपको माननेकी भावना जब नहीं रही तो जीवके विविध परिणामोंसे जो कर्म उत्पन्न हुए, उन कर्मोंके वशमें ये देहके भेद होने लगते हैं। वादर और सूक्ष्मकी ही बात नहीं, किन्तु बालक हो, बूढ़ा हो, जवान हो, ये पर्यायें भी विधिके वश ही प्राप्त होती हैं।

यहां सम्बोधन करके कह रहे हैं कि हे बाल जीव! जीव तो समस्त

प्रमाण है द्रव्य प्रमाणसे अनन्त है, क्षेत्रकी अपेक्षासे यह जीव, यद्यपि व्यवहारसे अपने देहमात्र है तो भी निश्चयकी दृष्टिसे लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। ऐसे जो जीवके बादर सूक्ष्म आदिक व्यवहारसे कर्मकृत भेद होते हैं उन भेदोंको देखकर निश्चयनयसे भेदको नहीं करना चाहिए, यह अभिप्राय है। भेद करनेसे रागद्वेष बढ़ते हैं। भेद नहीं करते हैं और व्यवहारदृष्टिको गौण करके स्वभावदृष्टिको देखकर जब हम स्वभावदृष्टि करते हैं तब वहां रागद्वेषकी उत्पतिका अवसर नहीं रहता है। इसलिए हे ज्ञानी जीव! तू इस जीवमें देहके भेदसे भेद मत कर।

अब यह बतलाते हैं कि जीवमें शत्रु मित्र आदिकका जो भेद नहीं करता है वह निश्चयसे जीवका लक्षण जानता है। वास्तवमें इस जीवका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। वह दूसरा पुरुष खुद अपने कषाय भावमें है और जिसे अपने आपमें कोई भाव होता है उसके अनुसार वह अपना यत्न करता है और दूसरे जीवोंका बुरा करनेकी दृष्टिसे यत्न नहीं करता है। यद्यपि उसकी दृष्टि बुरा करनेकी रहती है, पर दशा वहां यह है कि जो कषायकी वेदना जीवके होती है उसे वह नहीं सह सकता है। इस कारण उस बन्धको सिद्धिके लिए अपना प्रतिकार करता है, दूसरे जीवका कोई बुरा नहीं करता है। इसी प्रकार मित्रकी भी बात है। कोई जीव किसी दूसरेका भला नहीं करता है किन्तु स्वयंमें दूसरेको भला करने रूप राग भाव हो, उस रागकी वेदनाको जब नहीं सह सकता तो उसका ऐसा यत्न होता है कि जो यत्न दूसरेके अनुकूल पड़ जाता है और भला होने लगता है। वस्तुतः उस जीवने अपने ही शुभ अनुरागकी वेदनाको शान्त किया है। तो यहां अब कह रहे हैं कि शत्रु मित्र आदिके भेद को जो नहीं करता है वह निश्चयनयसे जीवके लक्षणको समझता है।

सत्तु मित्तुवि अप्पु परु जीव असेसुवि एहि।
एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥ १०४ ॥

कौन मेरा शत्रु है और कौन मेरा मित्र है? शत्रु और मित्रका जो भेद देखना है वह आत्माको नहीं जानता है। जीव यदि जीवके यथार्थ स्वरूपको जान जाय तो वहां शत्रुता और मित्रताका कोई भिन्न नाता नहीं है। जो पुरुष शुद्ध संग्रहनयसे अर्थात् जीवके स्वभाव और स्वरूपको दृष्टि करके सबमें एकत्व मानता है—सब एक है, वह शत्रु और मित्रकी कल्पना नहीं करता है वह जीव ही वास्तवमें आत्माको जानने वाला है, पर यह बात कर कौन सकेगा? जिसमें वीतराग परम समताभावको करनेका माद्दा हो, स्वभाव-

दृष्टिकी जिसमें शक्ति हो, वह पुरुष ऐसा उत्साह कर सकता है कि आत्माका परिचय करे। पर यह बात बड़ी कठिन है।

कोई पुरुष विरोध कर रहा है, फिर भी उस पर वैरकी दृष्टि न जगे इसकी औषधि ज्ञान है। हम किसीका विरोध न करें, फिर भी कोई वैरकी बात करें, इस प्रकारकी यदि बात हो रही है तो समझो कि वह अपनी वेदनाको शान्त कर रहा है। ऐसा निरख सकें तो समझना चाहिए कि यह है सत्य बात। शत्रु मित्र, जीवन मरण, लाभ अलाभ-- इनमें समताभावरूप जो वीतराग परमसामयिक है उसे करके शुद्ध जीवमें जो एकत्व मानता है। वह ही आत्माके स्वरूपको जानता है, जो आत्मा वीतराग सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, शत्रु मित्र आदि विकल्पकल्लोलोंसे रहित है, ऐसे आत्माको वह ही पुरुष जानता है जो स्वरूपकी मुख्यता करके जीवको एक समान समझता है।

जो जीव सब जीवोंको एक समान नहीं मान सकता। उसको समभाव नहीं होता— ऐसा इस दोहेमें वर्णन है।

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयलविएक्कु सहाव।
तासु ण थक्कइ भाउ समु भवसायरि जो णाव ॥ १०५ ॥

जो समस्त जीवोंको एकस्वभावी नहीं मान सकता, उसके समता-परिणाम नहीं होता। यह समतापरिणाम संसाररूपी समुद्रसे तिरने के लिए नावकी तरह है। दो ही तो निर्णय हैं— जिसमें समता है सो सुखी है, समता नहीं है सो दुःखी है। जितना भी क्लेश देखते जावो, मिलेगा उनमें रागद्वेष मोह। जिनके ये तीनों बातें पायी जाती हैं उसके ही दुःख है। है किसीका कुछ नहीं, मगर जिसके रागद्वेष मोहका परिणाम है वह दुःखी है। और जिसमें समता है वह सुखी है। हम भगवान्को क्यों पूजते कि वे समताके पूर्ण विकासरूप हैं। भगवान्से हमें कुछ नहीं मिलता है, वे अपने आनन्दमें लीन हैं, सारे लोकको वे जानते हैं, कुछ उनसे प्राप्त नहीं होता है, मगर चाहिए हमें समता, और समताके वे पूर्ण विकासरूप हैं। इसलिए हम उनका ध्यान करते हैं।

हे प्रभो! इस विकल्प संकल्पसे अब तक हम दुःखी रहे। अब हमारे ऐसी बुद्धि जगे कि समतापरिणाम हो। व्यर्थकी जो मान्यताएं हैं-- परको अपना मान लिया, परसे इज्जत समझ लिया, बड़प्पन समझ लिया आदि जो संकल्प विकल्प चलते हैं, इनसे बड़ी हैरानी हो गई है। प्रभो! आपके स्वरूपके ध्यानके प्रसादसे मेरा ध्यान ऐसा बने कि रागद्वेष न हों। यह बात तब हो सकती है जब कभी हम सभी जीवोंको समान मानें। रागद्वेष ही तो

इस संसारी जीवको दुःखी किया करते हैं। हम किस पर राग करते हैं? हमने इस संसारमें मान लिया कि यह मेरा है, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही हम रहते हैं, इससे ही हमारा गुजारा है, इससे ही हमारा जीवन है, लो ऐसा मानकर हमने राग कर लिया और उनके अतिरिक्त जो अन्य जीव हैं उनसे द्वेष करने लगे। सो सब जीवोंको जब एकस्वभाव मान लिया तो रागद्वेष मिट सकता है अन्यथा नहीं मिट सकता है।

यद्यपि रागद्वेष अन्य अर्थात् अचेतन पदार्थोंसे भी होते हैं, मगर जीवके प्रयोजनसे होते हैं। घड़ी, मोटर, साईकिल, बड़े बड़े मकान— इनसे जो राग करता है वह इस दुनियामें अपना बड़प्पन साबित करनेको, उनमें अपनी पोजीशन बनानेको, अजड़ पदार्थोंसे भी राग करता है, मगर जड़के रागको सीधा नहीं करता है। किसलिए करता कि जगत्के जीवोंमें अपना मान रखना है, बड़प्पन रखना है, इस वजहसे उनसे राग करता है। नहीं तो धोती कपड़ा मैला पहिने तो क्या, साफ पहिने तो क्या, मगर मैला कपड़ा क्यों नहीं पहिना जाता कि लोग कहेंगे कि देखो यह किस तरह है? तो इन जड़ पुद्गलोंसे जो राग चलता है वह जीवोंके सम्बन्धसे चलता है। इन सब जीवोंको एकस्वभावी मान सकें तो रागद्वेष छूट सकते हैं अन्यथा नहीं छूट सकते हैं।

सबको एकस्वभावी हम कब मान सकेंगे जब हमको स्वयंके सहज स्वभावका परिचय होगा। रागद्वेष रहित, संकल्पविकल्परहित, केवल ज्ञानमात्र, केवल ज्ञाताद्रष्टा— ऐसा स्वभाव अपना विदित हो तब मान सकेंगे कि सब जीवोंका भी यही स्वभाव है। इससे आगे और जीवका स्वत्व नहीं है। देहका संयोग मिला है तो उसके अर्जित कर्मोंके उदयसे। ये मायामय चीजें मिली हैं, ये चीजें साथ न जायेंगी। इस भेदसे जीवमें भेद जो ज्ञानी नहीं डालता, वह जीवके सहजस्वरूपको देखता है, वह एक स्वभावमात्र है। घरके उन चार आदमियोंसे क्यों राग करते हो? और घरसे अर्थात् अन्य जीवों से क्यों द्वेष करें, वे भी स्वभावी हैं, यह भी ज्ञानस्वभावी है।

भैया! स्वप्नका यह सब परिचय है, मोहकी नींदका यह परिचय है। यह मेरा है, उनमें एकत्वका ऐसा भान करते हैं जैसा कि ज्ञानी अपने आप के स्वरूपमें स्वरूपका भान कर सकते हैं। सब एकत्वका भान तो करते हैं किन्तु स्वरूपका तो भान यह मोही जीव करता ही नहीं है, पर जिनमें मोह है उनका बड़ा परिचय बना हुआ है। उनके रग-रगको जानने वाले हैं, उनकी आवश्यकताएं जानीं, उनके खुश होनेकी अथवा प्रसन्न होनेकी बातें जानीं, सारे दांव पेंच जानें, सारी बातें जानते हैं, पर हैं केवल ज्ञानस्वभावी

ऐसा नहीं मानते हैं। जो सब जीवोंको एक स्वभावमें देखता है उसके रागद्वेष नहीं होता है। यद्यपि गृहस्थावस्थामें रागद्वेषसे परे होना अति कठिन है पर करना ही पड़ता है। मगर दिन रातमें कभी दो मिनट भी रागद्वेषरहित निर्विकल्प आत्मस्वभावकी झलक जगे तो उतनेमें ही हितकी बात है, सारा दिन रात अच्छा गुजर सकता है। रात दिन मोह और रागद्वेषका भार लादे-लादे कुछ भी काम नहीं बनता है। उपयोगमें रागद्वेष मोहका बोझा रातदिन लादे रहते हैं। जब कि बोझा लादे रहनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। रात दिनमें दो चार मिनटको तो अपने आत्मस्वरूपकी खबर करें। यदि इतना भी नहीं कर सकते हैं तो फिर और क्या कर सकते हैं?

भैया! जो जहां है वह तहां है। अपने उपयोगमें रागद्वेष मोहका बोझा क्यों लादे रहते हो? जो पुरुष सबको एकस्वभावी नहीं जान सकता है उसके समतापरिणाम नहीं हो सकता है। यह समतापरिणाम संसाररूपी समुद्रमें नावकी तरह तैरनेका उपायभूत है। समताभावका आना यही सुख है। उद्यमोंमें उद्यम समता है, पुरुषार्थोंमें पुरुषार्थ समता है, कर्तव्योंमें कर्तव्य समता है, पर आजके समयमें समताकी कुछ पूछ नहीं है। यह विलासिता का जमाना है, वैज्ञानिक यंत्र तंत्र हैं, बिजलीके सारे साधन हैं। जहां नीचे से तीन मंजिल पर सीढ़ियोंसे चढ़कर नहीं जाते, लिफ्ट पर बैठ गए, बटन दबाया और ऊपर पहुंच गए। ऐसे समयमें आत्माकी क्या खबर करें? बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि है तो बाह्यदृष्टिका यह स्वभाव ही है कि क्षोभ रहा करे? जो अपना आत्मस्वरूप है वहां ही अपना उपयोग जाये तो शांति मिले।

जैसे समुद्र है शान्त। शान्तसमुद्र किसे कहते हैं कि अपने आपमें गम्भीरता से निस्तरंग पड़ा रहे उसे कहते हैं शांतसमुद्र। इसी तरह शांत आत्मा किसे कहते हैं कि जिसका ज्ञान अपने आपमें अपने ज्ञानको जानता हुआ गम्भीर पड़ा रहे, इसकी बाहरमें तरंग न उठे, अपने आपमें समाया रहे, उसे कहते हैं शांत। शांतसमुद्र अपने आपमें समाया हुआ है, बाहरमें अन्य जगह लहर नहीं उठती है उसे शांत कहते हैं। तो जिसका ज्ञान अपने आपमें समाया हुआ हो उसे शांत कहते हैं। रागद्वेषवश यह जीव गम नहीं खाता है। अचानक मरना भी पड़ता है, आयुका क्षय भी हो जाता है। कुछ यहांका आखिर साथमें न जायेगा; लेकिन मरते दम तक भी यह जीव विकल्पजाल नहीं छोड़ पाता। कपड़ेका बुनने वाला पूरे तान तक बान नहीं बुना सकता है। उसको चार अंगुल जगह छोड़नी ही पड़ेगी। कपड़ा बुनता है तो अंतमें चार अंगुल जगह छूट जाती है, मगर अपने जीवनके तानेमें

विकल्पोंका बाना ऐसा पूर रहा है कि मरनेके चार मिनट पहिले भी नहीं छूटता है कि चलो अब छूट तो रहा ही है, अब तो मत सोचें परपदार्थोंके विकल्पकी बात।

भैया! बड़ी सावधानीकी जरूरत है। ऐसा ही संघ निरन्तर रहे तब यह चीज बनती है। जब हम मोही, अभिलाषी पुरुषोंमें तो अधिक समय व्यतीत करें, उनमें ही अधिक उपयोग बना रहे, उनके मोहके प्रसंगमें ही २३-२४ घंटे व्यतीत करें और १५ मिनट धर्मप्रसंगमें रहें तो बतावो असर किसका होगा? २४ घंटेमें १५ मिनट भी यदि धर्मध्यानमें दृढ़तासे रहें सो भी अच्छा है तब तो अपने आत्मस्वरूपका ख्याल करें। क्योंकि जो अधिक प्रसंग है उसका ही प्रभाव आत्मामें रहेगा। अपने आत्मस्वरूपकी खबर करनेके लिए तो अधिकसे अधिक सत्संग चाहिए, स्वाध्यायमें समय अधिक बीते, ऐसी वृत्ति चाहिए। और ऐसी बात तब बन सकती है जब चित्तमें यह आ जाये कि इस दुनियामें मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। कहां कहां पैर पसारें, कहां अपने उपयोगको दौड़ाएं, मेरा कहीं काम सिद्ध नहीं होता है—ऐसी जब निवृत्ति आए तो सत्संगमें, स्वाध्यायमें अधिक समय व्यतीत हो।

यह समतापरिणाम संसारसमुद्रसे तिरनेका एक उपाय है, नाव है। यहां यह शिक्षा दी गई है कि रागद्वेष मोहको छोड़कर परम उपशमभावरूप सहजानन्दस्वरूप शुद्ध आत्मामें अपनेको ठहरना चाहिए। अब इस बातका प्रकाश करते हैं कि जीवोंमें जो यह भेद पड़ गया है वह सब कर्मकृत है। जीवकी अपने आपकी सत्ताके कारण नहीं है।

जीवहँ भेउ जि कम्मकिउ कम्मुवि जीव ण होइ।
जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥१०६॥

जीवोंमें जितना भी मनुष्य तिर्यञ्च पशु पक्षी आदिका भेद है, वह कर्मोंसे ही आ गया है और कर्म भी जीव नहीं है क्योंकि जीव किसी समय को पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है। कितना भेद पड़ा है? कोई दुःखी है, कोई सुखी है। सुख भी अनेक तरहके हैं और दुःख भी अनेक तरहके माने जाते हैं। कोई दरिद्र है, कोई कम पढ़ा लिखा है, कोई ज्ञानी है। जीव-जीव कितनी तरहके हैं। एकसी जोड़ी किसी की नहीं मिल सकती है क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण कषाय होती हैं, सो सब बातोंमें एक से नहीं हो सकते हैं। लोग कहते हैं कि कुछ बातें तो ऐसी हैं जो कि कभी एकसी नहीं मिल सकती हैं। प्राण, भाग, वाणी, सकल, अक्षर, बुद्धि विवेक—ये कभी भी एकसे नहीं मिलते हैं। कुछ न कुछ अन्तर होता ही है। जो पगड़ी बांधी जाती है

वह भी किसीमें एकसी नहीं मिलती है। अपनी-अपनी पगड़ी बांधें तो किसी की किसीसे एकसी नहीं मिल सकती है। अच्छा पगड़ी की बात जाने दो। एक ५-७ गजका लम्बा कपड़ा हो, सब लोग अपने-अपने सिर पर बांधें तो सबकी शकल अलग-अलग रहेगी। इसी तरह सबका भाग्य अलग-अलग है।

जिस देशमें कम्युनिज्म है उनमें क्या समानता हो जायेगी? नहीं हो सकती है। किसी की ज्यादा इज्जत है, किसी की कम इज्जत है। कोई आफीसर है, कोई चौकीदार है। तो कोई कैसी ही व्यवस्था बना ले, पर एक सी बात नहीं हो सकती है। रूसके ख्रुश्चेव हों और उनके ही देशमें उनका चौकीदार हो तो उनमें भी कुछ न कुछ अन्तर रहेगा। किन्हीं दो व्यक्तियोंमें एकसी समानता नहीं होती है। इसी तरह वचन एकसे नहीं हो सकते। कुछ न कुछ अन्तर जरूर होगा। शकल सूरत भी एकसी नहीं हो पाती है। बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जो ५-६ आदमी अपनी ही शकल सूरतके अपने साथ रखते हैं, जैसे राष्ट्रपति वगैरह, पर उनमें भी कुछ न कुछ अन्तर होता ही है। जरा दूरसे देखनेमें वे समान लगते हैं। बुद्धि भी सब जीवोंकी एक समान नहीं होती है। विवेक क्या है? व्यवहारमें प्रैक्टिकल योग्य काम कर सकनेको विवेक कहते हैं और जो प्रतिभा है वह योग्यतारूप है उसे कहते हैं बुद्धि। अक्षर होंय न एकसे, अक्षर जो लिखे जाते हैं वे भी सबके एकसे नहीं होते हैं। कोई कितना ही यत्न करके किसीके अक्षरोंकी नकल करें तो वह नहीं कर सकता है। कुछ न कुछ अन्तर हो जाता है।

ऐसे ये भी जो कुछ अन्तर पड़े हैं ये सब कर्मकृत अन्तर हैं। जीवों में जीवोंके स्वभावकी ओरसे अन्तर नहीं हैं। कर्म और निर्दोष शुद्ध आत्मा इन दोनोंके मुकाबलेकी बात चल रही है। शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व सब एक समान हैं, पर कर्मउपाधिके कारण इनमें भेद पड़ गया है। और ये ज्ञानावरणादिक कर्म भी तो जीवके स्वरूप नहीं हैं। जीवका स्वरूप तो मात्र शुद्ध ज्ञान दर्शन है। इस कारणसे कर्मोंके कारण ये जीवकी दशाएं भिन्न-भिन्न हो गई हैं। सो किसी भी समयको पाकर यह जीव उन कर्मोंसे जुदा हो सकता है। कर्म जुदी चीज है और जीव जुदी चीज है। वीतराग परमात्माके अनुभवका सहकारी कारण जो यथा काल है, उस काललब्धिके आते ही यह जीव शरीरसे जुदा हो जाता है।

काललब्धि कोई खाश चीजका नाम नहीं है। जिस समय काम बन गया, उसी को काललब्धि कहते हैं। जिस दिन काम है, वह दिन आया, इस लिए काम हुआ। तो क्या उस दिन ने काम किया? उस दिनने काम नहीं किया। काम तो किया उस मनुष्यके पुरुषार्थने। सो जब काम हुआ उस

समयकी मुख्यता कर देते हैं और पुरुषार्थको गौण कर देते हैं व्यवहारी जन। पर वस्तुतः जीव जिस कालमें अपने कार्यको कर लेता है उस ही काल को काललब्धि कहते हैं।

इस कथनसे यह तात्पर्य निकालना है कि टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा की तरह जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है उसे जो जानता है वह ज्ञानी है। टांकीसे उत्कीर्ण प्रतिमा निश्चल रहती है। वह कहींसे कम्पित नहीं हो सकती है। चाहे समस्त प्रतिमाको उल्टा पलटा दो, पर वह कम्पित नहीं हो सकती है। जैसे हाथको मोड़ लिया वैसे प्रतिमा नहीं मुड़ सकती है। वह प्रतिमा टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है। इसी तरह यह ज्ञानस्वभावी आत्मा निश्चल है। अनादिकालसे कर्मोंसे घिरा रहने पर भी; नानाप्रकारकी गतियोंमें, योनियोंमें उत्पन्न होने पर भी यह जीव चैतन्यस्वभावरूप ही रहता है, यह चलायमान नहीं हो सकता है। पुद्गलमें तो परिवर्तन कालान्तरमें हो सकता है और वर्तमान पर्यायसे पुद्गलमें भी परिवर्तन नहीं होता है। एक गिलासमें एक पाव दूध और एक पाव पानी मिला दें तो भी दूध पानीसे नहीं मिला। दूध का स्वरूप दूधमें ही है, पानीका स्वरूप पानीमें ही है। दूधका प्रवेश पानी के क्षेत्रमें नहीं और पानी प्रवेश दूधके क्षेत्रमें नहीं है। सूक्ष्मतासे देखो तो दूधकी जगह पर दूध और पानीकी जगह पर पानी है। पर दूध पानी बन सकता है और पानी दूध बन सकता है कालान्तरमें। पानीको गाय पी ले तो लो कुछ अंश दूध गया। इस तरहसे दूध और पानीमें तो परिवर्तन हो जायगा, पर जीवका तीन कालमें भी परिवर्तन नहीं हो सकता है।

इस तरह टंकोत्कीर्णवत् शुद्ध ज्ञानमात्र एक जीवस्वभावसे विलक्षण— ये जो स्त्री पुरुष आदिक दिख रहे हैं, कोई इष्ट लगा, कोई अनिष्ट लगा, कोई मनको रुचिकर लगा, कोई अरुचिकर लगा। कल्याणार्थी पुरुषको ऐसा रागादिक अपध्यान नहीं करना चाहिए। समता होगी तो शान्तिका मार्ग मिलेगा, न होगी तो शान्तिका मार्ग न मिलेगा। शब्दोंमें भी देख लो समता में तीन शब्द हैं— स म ता। इसको उल्टा करके पढ़ो तो ता म स। तो समता से शान्ति है और तामससे अशान्ति है। जितना भी अपना उपयोग अपने आपसे दूर हो जाता है वह सब तामस भाव है, सब क्षोभका परिणाम है। बाहरकी ओर दृष्टि जाय और यह शान्त हो जाय— यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता है। क्यों नहीं कि जो बाह्यपदार्थोंकी ओर दृष्टि गई है उससे इच्छा उत्पन्न होती है और उसकी इच्छाके अनुकूल परिणमन न दिखेगा तो उसे दुःखी होना पड़ेगा। यदि अपनेसे बाहर दृष्टि जाय तो वहां सुख शांति त्रिकालमें भी नहीं हो सकती है। सुखका उपाय तो आत्मदृष्टि ही है।

इस प्रकार इस दोहेमें यह बताया गया है कि कर्मोंसे उत्पन्न हुए देहादिक भेदोंको देखकर जीवोंके स्वरूपमें जो भेद नहीं करता है वह समता-परिणामको प्राप्त होता है। सो इस बातको चाहे देरमें बनें, चाहे धीरे-धीरे बनें, मगर कर लेता है। करनेको काम यही है कि जिन-जिन जीवोंको देखें उनको देखकर यह ध्यान बनें कि इनका स्वभाव भी वही ज्ञानस्वरूप है। ऐसे स्वभावकी दृष्टि जितनी दृढ़ बनेगी उतना ही हम सम्यग्ज्ञानमें परिपुष्ट हो जायेंगे। सो दूसरे जीवोंको देखें तो उनके स्वभावकी ओर दृष्टि करनी चाहिए और जिस स्वभावमें वह है उस स्वभावरूप उसे मानें, सबको समान मानें। यह प्रैक्टिकल थोड़ा भी हो सके तो यह शान्ति दे सकता है।

जीवोंमें यह भेद देखा जा रहा है कि कोई नीच है, कोई ऊंच है, कोई यशस्वी है, कोई छोटा है, कोई बड़ा है— ये सब भेद जीवके स्वभावसे नहीं हैं, किन्तु कर्मोंकी जातिके निमित्तसे हैं। इस कारण शुद्ध संग्रहनयसे उन सबको एक देखो, भेद मत करो। ज्ञानी जीव वह कहलाता है जो जीव-जीवमें भेद न करे। अमुक छोटा, अमुक बड़ा; अमुक इष्ट, अमुक अनिष्ट; अमुक द्वेषी, अमुक मित्र— ऐसे जो भेद नहीं करता उसको ही ज्ञानी कहते हैं। साधु संतोंके करनेके लायक और है ही क्या? ध्यान बनाना, अपने स्वरूपको देखना, सब जीवोंके सहजस्वरूपको देखना और उनको एक मानना— इस ही बातका अब निरूपण करते हैं :—

एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्णविसेसु।
इक्कइँ देवइँ जे वसइ तिहुयणु एहु असेसु॥ १०७॥

कहते हैं कि हे मुमुक्षु पुरुष! तुम सब जीवोंको जातिअपेक्षा एक मानों। पर्यायकी मुख्यता न करो और आत्माका जो सहज स्वरूप है, स्वभाव है उसकी मुख्यतासे देखो, सब जीव एक समान हैं। उनमें तुम भेद मत करो, उनमें रागद्वेष न करो। मनुष्य जातिकी अपेक्षा जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये समान हैं, इसी प्रकार जातिकी अपेक्षा जगत्के जीव ये भी सब समान हैं। तो उन सब जीवोंमें और यहांके मनुष्योंमें वर्णभेदसे भिन्न-भिन्न मत देखो। इसका अर्थ यह नहीं है कि नीच चांडाल पुरुषोंमें घुले मिले बने रहें, उनके हाथका भोजन करें, उनमें बसें— यह शिक्षा नहीं दी जा रही है। व्यवहारके योग्य व्यवहार करो, नीचे रहकर अपनी प्रकृति नीच न करो। कहीं भी रहो सर्वजीवोंमें जीवके स्वरूपको देखो। सब जीव एक समान हैं।

इससे गृहस्थ लोगोंको यह शिक्षा लेनी है कि दूसरे जीवोंके हितमें यदि कभी अपना कुछ पैसा खर्च होता हो तो होने दो, अपने घरके दो चार

जीवोंको ही अपना समझ कर सारी कमाईका खर्च उन पर ही करें और जो पड़ौसी हैं अथवा और दुःखी लोग हैं उनके पीछे अपना कुछ भी व्यय न हो, ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि पहिली बात तो यह है कि पैसेको कोई जानकर कमाता नहीं है, न कमा सकता है। उदय अनुकूल हो तो न जाने कौनसा उपाय ऐसा बन जाय जिससे पैसा आता है। कमाने वाला खुद नहीं है। कमाने वाला तो पुण्यका उदय है। और उस पैसेका उपयोग केवल घरके लोगों पर ही करनेका भाव रखें तो इस अनुदारताके भावसे पुण्यमें फर्क आ जाता है। अपने भाव खराब हों तो पुण्यका उदय खराब हो जाता है। यदि भाव निर्मल बनाएं, उदारताका बनाएं तो दूसरा फायदा क्या हुआ कि दूसरों पर व्यय होता रहे तो सबकी ओरसे आदर बुद्धि रहती है। सब उसको अच्छा गिनते हैं और वक्त आये तो सब उसकी सेवामें हाजिर रहते हैं। तो कुछ न कुछ अपने जीवनमें दशांश, अष्टांश, चतुर्थांश पर जीवोंके लिए खर्च करना चाहिए। इससे एक बात यह ध्यानमें रहेगी कि सभी जीव मेरे लिए समान हों, ऐसा मानना चाहिए था, मगर एक गृहस्थावस्थाके झंझट ऐसे हैं कि सब जीवोंको एक समान न मानकर हम घरके दो चार जीवों पर ही आस्था बुद्धि रखे हैं, यह हमारे लिए दोष है। गृहस्थीमें यह कर्तव्य जरूर है मगर आत्माके नाते यह दोष है कि हम घरके चार छः मनुष्यों पर ही अपना सारा तन, मन, धन न्यौछावर करें। यह दोष भी ध्यानमें रखना है। साधु-जन तो सर्वजीवोंको एक समान समझते हैं।

राजा श्रेणिकके समयमें जब श्रेणिक और चेलनामें धर्मके नामपर विवाद चला तो श्रेणिकने क्रोधमें आकर जंगलमें बैठे हुए एक साधुके गले में मरा हुआ सांप डाल दिया था। वह कथानक बहुत प्रसिद्ध है। तो तीन दिन तक नहीं बताया। तीसरे या चौथे दिन राजा श्रेणिक अपनी रानीसे कहते हैं कि हमने तुम्हारे साधु पर मरा हुआ सांप डाल दिया था तो चेलना बोलती है कि यदि मेरे साधु वह होंगे तो उसी जगह बैठे होंगे। तो श्रेणिक कहता है कि अरे क्या बात कहती हो, कभी का उन्होंने उठाकर उसे फेंक दिया होगा और कहीं चले गए होंगे? चेलना कहती है कि ऐसा नहीं हो सकता है। कारण यह है कि जो आत्माकी साधनामें दृढ़तासे रहता है, आत्माको साधता है, निर्विकल्प परिणति बनाता है, विकल्प करना पसंद नहीं करता है वह साधु है।

साधु इतना भी विकल्प नहीं करता कि चींटी ऊपर चढ़ी हैं, उन्हें हटा दें, फिर अच्छी तरहसे ध्यान करें। सो भी नहीं करता है क्योंकि वह

जानता है कि वर्तमानमें विकल्प करके भविष्यमें निर्विकल्पताकी आशा रखे यह सिद्ध नहीं होता है। जैसे कोई मनुष्य सोचता है कि दो वर्ष तक खूब कमायी करलें, फिर दो वर्षके बादमें आत्मसाधनामें लगेंगे। दो वर्ष भी बीत जाते हैं, धन दौलतमें ही लिप्सा बढ़ जाती है और वह धर्ममें नहीं लग पाता है।

गृहस्थका कर्तव्य यह है कि कैसी भी परिस्थिति हो, धर्मसाधनमें लगे। दर्शन करना, सामायिक करना और स्वाध्याय करना – ये तीन काम तो प्रत्येक गृहस्थको करने जरूरी हैं। न समय ज्यादा मिले तो ५ मिनट ही रात दिनमें धर्मसाधना की जाय। सामायिक को ज्यादा समय न मिले तो १० मिनट ही करलो। नौ बार णमोकार मंत्र जपो और फिर ॐ नमः सिद्धेभ्यः जप लो। बारह भावना पढ़लो। समय मिले तो थोड़ासा आत्म-चिंतन करलो। पर क्या है? मैं क्या हूं, इस पर विचार करलो। इस तरह से कुछ देर सामायिक करलो। कमसे कम १० मिनट तो यह काम रोज कर लो और यदि इससे ज्यादा समय बीते तो और अच्छी बात है। दूसरी चीज है स्वाध्याय। स्वाध्याय करना बहुत जरूरी है।

धन कमाओ, २४ घंटे कमावो, मना नहीं करते हैं। उसे धरोगे कहां, खावोगे कितना? है तो वह धर्मके कामों के ही लिए। पर कौन कमा सकता है २४ घंटे? ६ घंटा, आठ घंटा हद है। अब तो दुकान और आफिसका भी समय नियत है। समय सबके पास है लेकिन प्रमाद है, गप्पोंमें, मिलन जुलनमें, सोसाइटीमें समय ज्यादा लगाते हैं। धर्मकार्योंके लिए समय नहीं लगाते हैं। तो ये तीन काम प्रतिदिन करनेके हैं—देवदर्शन करना, सामायिक करना और स्वाध्याय करना। कदाचित् जिन्दगीमें जब कभी आपत्ति आगई और आपत्ति आती ही है। जिसका संयोग है उसका वियोग अवश्य होगा। क्या कोई सम्बन्ध ऐसा भी है कि जो सदा रहे? स्त्री, पुत्र, पिता आदि क्या ये सदा रहेंगे? नहीं। इनके मरणके समय वियोग अवश्य होगा। या दूसरों के सामने खुद ही मर चले तो आपत्ति मानी और ज्ञान रहेगा, धर्मका शरण रहेगा तो कुछ शांति भी प्राप्त हो सकती है। क्यों दुःखी होना? मेरा तो किसी से सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो संसारकी रीति ही है। तो यह धर्म समय पर काम देता है। इस तरह स्वाध्याय में प्रमाद नहीं होना चाहिए। ये तीन काम ज्ञानी गृहस्थके प्रतिदिन करने के हैं।

साधुके लिए निरन्तर समतापरिणाम बनाए रहनेका काम है। अपने स्वरूपको सोचें, जगतके जीवोंको एक समान देखें और शल्य मोह राग छोड़ कर प्रसन्न बने रहें—यह साधुका काम है। सब जीवों की एक जाति है, जैसे

सेना और वन एक हैं। वैसे तो जातिकी अपेक्षा सब जीव एक हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णभेद ये सब कर्मजनित हैं। अभेदनयसे सर्व जीवोंको एक जानों।

यह जगत् अनन्तजीवोंसे भरा हुआ है। कितनी-कितनी तरहके दुनियांमें जीव हैं। इन जीवोंको छोटे से बड़े तक क्रमसे विचारो तो सबसे पापी निगोदिया जीव हैं। निगोदिया से छोटे और कोई जीव नहीं हैं और निगोदियामें भी अत्यन्त तुच्छ सूक्ष्म निगोदिया हैं। सूक्ष्म निगोदिया जीव बादर निगोदिया जीवकी अपेक्षा अधिक पापी हैं।

स्थावर के ५ भेद किए गए हैं--पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। वनस्पतिकायके दो भेद हैं--प्रत्येकवनस्पति और साधारणवनस्पति। इनमें साधारणवनस्पतिका नाम निगोद है। ये दिखनेमें जो वनस्पति आती हैं वे प्रत्येकवनस्पति हैं। साधारणवनस्पति का शरीर दिखनेमें नहीं आता। साधारणवनस्पतिको ही निगोद कहते हैं। इनमें जो बादरनिगोद हैं वे प्रत्येक वनस्पतिके आश्रित हैं। उन्हें साधारण-सहित प्रत्येकवनस्पति कहते हैं। सूक्ष्मनिगोद सर्वत्र निराधार हैं। बादर निगोद इन आठ प्रकारके देहोंमें नहीं होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, केवलीका शरीर, आहारक शरीर, देव और नारकी का शरीर--इन आठोंमें तो बादरनिगोद नहीं होते हैं और शेषके मनुष्य, तिर्यञ्च और प्रत्येक वनस्पति इनके सहारे बादरनिगोद हैं। सूक्ष्मनिगोद सब जगह भरे पड़े पड़े हैं। जहां सिद्ध भगवान् विराजे हैं लोकके अंतमें वहां पर भी सूक्ष्म निगोद भरे पड़े हैं। तो सबसे पापी हैं सूक्ष्मनिगोदिया जीव। उसके बाद देखो बादरनिगोदिया जीव। अब बादरनिगोदियासे और ऊंचे चढ़ो तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येकवनस्पति देखो। उनमें भी अग्निकाय और वायुकायके ज्यादा पापी जीव माने जाते हैं। पृथ्वी, जल और प्रत्येक-वनस्पति तीनकी अपेक्षासे अग्निकाय और वायुकाय ये पापी जीव माने जाते हैं। फिर पृथ्वी, जल और प्रत्येकवनस्पतिके जीव पापी माने जाते हैं।

इसके बाद त्रस पर चलो। दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव, कितनी ही तरहके दो इन्द्रिय मिलते हैं। कितने-कितने पतले जीव होते हैं, जितना पतला सूत होता है उतने पतले दो इन्द्रिय जीव भी पाये जाते हैं। सूतके समान पतले होते हैं, जो मुश्किलसे दिखाई देते हैं। दो तीन अंगुलके लम्बे होते हैं। अगर वे रंगीन न हों तो दिखाई ही न पड़ें। रंगीन होते हैं इस लिए जरा जल्दी दिख जाते हैं। तीन इन्द्रियमें भी कितने जीव हैं–कीड़ी, चींटी, सुरसरी, बिच्छू आदि कितने तरहके जीव हैं। तो ऐसे ही

अनेक तरहके तीन इन्द्रिय जीव हैं। चार इन्द्रियमें देखो— मच्छर, मक्खी, भंवरा, भुनगा आदि कितने ही तरहके चारइन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रियमें तिर्यंचोंकी बहुतसी किस्में हैं। गैंडा, हाथी, मगरमच्छ, ऐसे-ऐसे शरीरके नये नये ढंगके जीव हैं जिनके पता नहीं कहां मुंह आ रहा है, कैसा अंग बना है। विचित्र-विचित्र प्रकारके जीव हैं। पक्षियोंमें कितनी ही तरहके पक्षी हैं। मनुष्य भी भिन्न-भिन्न प्रकारके दिखते हैं। ऐसे नाना प्रकारके जीवोंसे यह लोक भरा हुआ है, किन्तु हे ज्ञानी आत्मन्! तुम उन सब जीवोंकी पर्याय पर दृष्टि न दो, उनके स्वरूपको देखो तो सब जीव एक समान हैं। उनमें तुम भेद मत करो। ये सब जीव परमपारिणामिक भावको ग्रहण करने वाले शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे, शक्तिकी अपेक्षासे केवल ज्ञानानन्द गुणरूप हैं। इस कारण तुम उन सब जीवोंमें भेद मत करो।

यद्यपि ये जीव कर्मके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके ठहरते हैं तो भी निश्चयनय से, शक्तिरूपसे परमब्रह्मस्वरूप ही कहे जाते हैं। परमविष्णुरूप से कहा यह भी आत्माका ही नाम है। आत्मा किसे कहते हैं कि जो निरन्तर गमन करे। यहां गमनका अर्थ चलना नहीं है किन्तु जानना है, क्यों कि संस्कृतमें जो गमन अर्थ वाली धातु है उस ही का अर्थ जानना है। सूर्य निरन्तर चलता है इसलिए उसका नाम आदित्य है और आत्मा निरन्तर जानता है इसलिए उसका नाम आत्मा है। तो आत्माका अर्थ है कि जो निरन्तर गमन करे, जाने। आत्माका नाम जीव है। जो जीवे सो जीव है। इसीका नाम ब्रह्म है। जो अपने गुणोंमें बढ़ते रहनेका स्वभाव रखे उसका नाम ब्रह्म है। जैसे स्प्रिंग होती है तो स्प्रिंग फैलनेका स्वभाव रखती है। वह स्प्रिंग दबाने के निमित्तसे दबी रहेगी, मगर उसमें स्वभाव उठनेका ही पड़ा हुआ है। चाहे वह दबी रहे मगर उसका स्वभाव उठनेका है। इसी तरह जीव कर्मोंके वश चाहे दबा रहे मगर इसका स्वभाव उठनेका है। जिसका बढ़ने का स्वभाव हो उसका नाम ब्रह्म है। जीव एक ऐसा पदार्थ है कि जिसके बढ़नेका स्वभाव है।

पुद्गलमें क्या कहोगे? उसमें क्या बढ़नेका स्वभाव है? नहीं। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि जो गुण हैं वे गुण बढ़ जायें, ऐसा पुद्गलका स्वभाव नहीं है। बढ़ जाय तो बढ़ जाये, न बढ़े, तो न बढ़े। बल्कि अत्यन्त शुद्ध परमाणु वह कहलाता है जिसमें रूप आदिक गुणोंकी डिग्रियां घट जाएँ। स्वच्छन्द गुण वाले परमाणु को शुद्ध, स्वच्छ परमाणु कहते हैं। तो उसमें तो उल्टी बात है। घटे तो उसको उत्कृष्ट कहा जाता है। पर जीव ऐसा है कि इसके बढ़ने का ही स्वभाव है, इस कारण इसका नाम ब्रह्म है।

इसही जीवका नाम जिन है। जिनका कर्मोंके जीतनेका स्वभाव है, कर्मों से दबे रहनेका, विकारों का जीवका स्वभाव नहीं है, किन्तु विकारोंसे पृथक् रहना जीवका स्वभाव है। चाहे अनन्तकाल तक भी विकारोंसे पृथक् न हो सके, किन्तु स्वभाव ऐसा ही पड़ा हुआ है। इसीका नाम शिव है। जो कल्याणमय हो, सुखमय हो उसे शिव कहते हैं। इसीका नाम विष्णु है। जो व्यापे उसे विष्णु कहते हैं। यह आत्मा ज्ञानके उपायसे सारे लोकमें फैल जाता है। जैसे अभी आप इस कमरे भरमें फैले हैं। कमरे में जो चीजें हैं उनके आप जाननहार हो रहे हैं। फैलना मायने जानना। तो यह जीव कहां तक फैल सकता है? सारे लोकमें फैल सकता है। और इतना ही नहीं, लोकसे अतिरिक्त जो अलोक हैं उनमें भी फैल जाता है याने उन्हें भी जान सकता हैं। इस प्रकार यह जीव परमविष्णु कहलाता है।

आत्माका नाम ईश्वर है। ईश्वर उसे कहते हैं जो अपने ऐश्वर्यमें स्वतंत्र हो। अपना काम, अपने द्वारा, अपने लिए, अपने से, अपनेमें कर सके, परकी अपेक्षा न रखे उसे कहते हैं ईश्वर। जैसे गांवपति एक ईश्वरके तुल्य माना जाता है क्योंकि जो गांवका किसान है, मुखिया है, जमीदार है उसे परकी कुछ अपेक्षा नहीं है। कपड़े चाहियें तो जमीनसे निकाल लिये। कपास बोकर सून कात लिया और कपड़े बुना लिये। सरसोंका तेल चाहिए तो जमीनमें सरसों बोकर निकाल लिया, मिट्टीका तेल चाहिए तो जमीनसे निकाल लिया। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो जमीनसे न निकले। उसे परकी अपेक्षा नहीं रखनी है। वह निकाल न सके यह बात अलग है। नमक चाहिए तो जमीनसे निकाल लिया। पृथ्वीसे ही तो नमक बन जाता है। शक्कर चाहिए तो जमीनसे निकाल लिया। आभूषण चाहिए तो जमीनसे सोना चांदी खोदकर और उसे शोधकर आभूषण बना लिया। वह जमींदार स्वतंत्र है। जो आवश्यक हुआ उसे जमीनसे निकाल लिया। इसी तरह आत्मा भी ईश्वर है। आत्माका काम आत्माके लिए आत्माके द्वारा आत्मासे आत्मामें होता है। तो इसलिए आत्मा भी ईश्वर कहा जाता है।

इसी आत्माका नाम राम है। जिसमें योगीजन रमें उसीका नाम राम कहलाता है! योगीजन किसमें रमा करते हैं? आत्मामें। तो इस ही आत्माका नाम राम है। और इस ही आत्माका नाम बुद्ध है। जो ज्ञानमय हो सो बुद्ध है। इसीका नाम हरि है। जो पापोंको हरे सो हरि है। इसीका नाम हर है। जो अपने सूक्ष्मविभावोंको भी दूर करदे उसका नाम हर है। बोलते हैं ना हरिहर। हर हरि कोई नहीं बोलता। हरि शब्द पहिले लगाते हैं। ये हरिहर आदि भी सब आत्माके ही नाम हैं। तो सब जीवोंको एकरूप

देखो अर्थात् आत्मस्वरूप देखो। यद्यपि यह जीवसमूह व्यवहारसे कर्मकृत है तो भी निश्चयनयसे शक्तिरूप है। ब्रह्मा, विष्णु, हरि, बुद्ध, राम किसी भी नामसे कहो ये सब आत्माके ही नाम हैं। इसी कारण कोई-कोई पुरुष इस जीवराशिको ही परमब्रह्मस्वरूप बोलता है, कोई विष्णुस्वरूप बोलता है और कोई शिवस्वरूप बोलता है।

यहां कोई शिष्य पूछ रहा है कि यदि तुम्हारे सिद्धान्तमें भी सारा जगत् एक है, सब जीव एक हैं तो दूसरे लोग भी जब बोलते हैं कि सब एक हैं, ब्रह्मस्वरूप है, अद्वैत है तो उन्हें दूषण क्यों देते हो? उत्तर देते हैं कि यदि पूर्वोक्त नयविभागसे केवलज्ञान आदि गुणकी अपेक्षा वे एक मान लें तो दूषण नहीं है। यदि एक पुरुषविशेष सर्वव्यापी सर्वजीवोंकी श्रद्धा करने वाला है—ऐसा यदि माना जाये तो उनमें दूषण है। इसलिए तो जिसका आशय मलिन है वह भली भी बात कहे तो भी प्रामाणिक नहीं मानी जाती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध है। एक कहते उसको हैं कि कोई भी परिणमन हो, उस एक पूरे में हो। आपका सुख आपमें होता है, हमारा सुख हममें होता है, फिर एक कैसे कहलाया? और फिर इसका विशेष वर्णन खण्डन न्यायशास्त्रोंमें कहा गया है। यह ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्र की मुख्यतामें है इसलिए नहीं कहना है, संकेत कर देना है। यहां अभिप्राय यह है कि हम सब जीवोंको द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे एक जानें, उनमें भेद न करें तो इससे रागद्वेष करनेका अवसर नहीं होता है। यहां तक यह बतलाया है कि सभी जीव केवलज्ञानादि लक्षण करिके समान हैं। जीवके ज्ञानस्वभावको देखो तो सभी जीवोंमें एक ही प्रकारका ज्ञानस्वभाव पड़ा हुआ है। जैसे सोलह बाने ताए स्वर्णमें स्वर्णत्वकी दृष्टिसे कुछ भेद नहीं हो सकता है, इसी प्रकार सब जीवोंमें जीवके स्वरूपकी दृष्टिसे कुछ भेद नहीं हो सकता है। इस प्रकार मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्गका प्रतिपादन अब तक हुआ है। और इस महाधिकारमें शुद्धोपयोग की दृष्टिसे और वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानकी दृष्टिसे और परिग्रह त्यागकी दृष्टिसे, सर्वजीवोंमें समानता की दृष्टिसे मोक्षके उपाय बताये गए हैं। अब इसके बाद पूर्ववर्णनका चूलिकारूप व्याख्यान करते हैं। मायने कहीं हुई बातका फिरसे नये प्रकार व उपायसे वर्णन करते हैं।

परु जाणंतु वि परममुनि परसंसग्गु चयंति।
परसंगइँ परगप्पयइँ लक्खहँ जेण चलंति ॥१०८॥

परममुनीश्वर उत्कृष्ट आत्मद्रव्यको जानता हुआ भी उन परद्रव्य अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म—इनके सम्बन्धको छोड़ देता है क्यों कि परद्रव्योंके सम्बन्धसे ज्ञानदर्शन लक्षणरूप परमात्मतत्वसे चलितपन

हो जाता है। इस संसारी जीवके कितनी वर्तमानमें कमजोरी है और वह कमजोरी है केवल दृष्टिसे। जो रागवश कुछ कल्पनाएं कीं तो कमजोरी बढ़ती जाती है। और रागरहित शुद्ध ज्ञानमात्र जिसमें परमकल्याण भरा हुआ है ऐसे स्वभावकी दृष्टि की तो सब प्रकट होने लगता है। हमारी दृष्टियां अधिकतर बाह्यकी ओर जाती हैं और परपदार्थोंमें ही चैन मानती हैं। हम परपदार्थोंसे ही बड़प्पन मानते हैं, परपदार्थोंके वियोगसे हानि समझते हैं— ऐसी परकी ओर दृष्टि जब तक रहती है, जब तक स्वरूपकी दृष्टि दृढ़ नहीं हो पाती तब तक स्वरूप पकड़में नहीं आता।

यह शुद्धोपयोगी मुनि समस्त परके संसर्गको छोड़ देता है। परके कहनेसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्ममें लगता है। द्रव्यकर्ममें आए ८ प्रकारके कर्म, ज्ञानावरण आदिक हैं। भावकर्ममें आए द्रव्यकर्मके उदयसे जो रागद्वेष भाव होते हैं, वे भावकर्म और नोकर्ममें आया शरीर अथवा कर्मों में फल देनेके लिए जो निमित्त मिलते हैं वे सब नोकर्म हैं। जैसे बताया गया है कि भैंसका दही खाना नोकर्म है। और बहुत प्रकार हैं। अच्छा और एक पंडित जी बतलाते हैं कि टाटकी जो पट्टी है उस पर बैठना, सोना ज्ञानावरणका नोकर्म है। उससे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो पाती है। तो राग-द्वेषके नोकर्म हैं फोटो देखना, सिनेमा देखना, रूप वाली चीजें देखना, सुन्दर मिष्ट भोजन करना, ये सब रागके नोकर्म हैं। कर्मनिमित्त है, नोकर्म आश्रय है जो कर्मोंके उदयका निमित्त होता है, मायने जिन निमित्तोंको पाकर कर्म अपना जोर दिखा सकते हैं उनके निमित्त नोकर्म हैं। उन नोकर्मोंमें प्रधान नोकर्म है शरीर, क्योंकि यह निकट है।

तो भैया! परपदार्थ कहनेसे तीन प्रकारकी बातें आयी— द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। इन कर्मोंमें से पहिले अन्तरंग कर्म है भावकर्म। जो जीवकी परिणति है, पर स्वभावसे परिणति नहीं है, उदय पाकर झलकी हुई परिणति है। जैसे अभी यहां उजेला है और हाथको जरा बढ़ा दें तो छाया पड़ने लगती है। वह छाया विकृतपरिणमन है। जैसे कि हाथके निमित्तसे जमीन पर छाया पड़ी तो वह छाया जमीनकी है, हाथकी नहीं है पर लोग बोलते हैं कि यह छाया हाथकी है, पर वह छाया हाथकी नहीं है। जमीन होनेसे छाया हो गई ऐसी बात नहीं है, किन्तु हाथ हुआ इस स्थितिमें तो छाया हुई। हाथ हटा तो छाया हटी। छाया यद्यपि जमीनका परिणमन है, पर उसका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध हाथसे है। इसलिए छाया हाथकी कहलाती है।

इसी प्रकार जीवमें रागादिक परिणमन होता है, कषाय जगती है

सो जीवोंमें जगी तो, मगर उनका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कर्मके साथ है। कर्म उदयमें हों तो हों, न हों तो न हों। यद्यपि निश्चयदृष्टिसे कथन और प्रकारका है कि जीवमें राग हुआ तो जीवके कारणसे हुआ, जीवकी परिणतिसे हुआ, जीवमें हुआ, वह दूसरे द्रव्यको देखता ही नहीं है, किन्तु व्यवहारसे ऐसा ज्ञान करनेमें भी हमें स्वभावदृष्टिका प्रयोजन हो जाता है। रागादिक पौद्गलिक हैं, पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, मेरा स्वभाव नहीं है। सब परको हटाते-हटाते विकल्प तोड़कर अपने अन्तरमें जब ज्ञान स्वरूपको देखते हैं तो उस प्रकाशसे अनुपम आनन्द प्रकट होता है। उस आनन्दमें सामर्थ्य है कि कर्मोंकी निर्जरा हो जाय। क्लेशमें कर्मनिर्जराकी सामर्थ्य नहीं है। तपस्या करते हुएमें अन्य लोगोंको ऐसा दिखता है कि यह कितने कष्ट सह रहे हैं। यदि वे कष्ट सह रहे हैं तो निर्जरा नहीं हो सकती है। आनन्द पा रहे हों तो निर्जरा होती है। तो ये तीन प्रकारके परतत्त्व हैं। अन्तरंगमें तो रागादिक भावकर्म हैं और उससे दूर गए तो नम्बर आता है ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोंका, और उससे भी दूर देखा तो नम्बर आया शरीरका और उससे भी दूर देखा तो सब धन, वैभव, चेतन, अचेतन परिग्रह हैं। उन सब परपदार्थोंका संसर्ग साधुजन छोड़ देते हैं क्योंकि इन समस्त अन्तरंग और बहिरंग परद्रव्योंके संसर्गसे परमतत्त्व चलित हो जाता है। जो परमतत्त्व समतारसमें परिणत है, वीतराग, नित्यानन्द एकस्वभावी है, ऐसा लक्ष्यभूत ध्येयरूप जो परमतत्त्व है उससे च्युत हो जाता है, पर द्रव्योंके संसर्गमें उनकी दृष्टिमें, क्योंकि बाह्यमें दृष्टि लगी है तो अन्तरमें समाधि कहां है? सो अन्तरंगस्वरूपका संसर्ग हो तो परमात्मतत्त्व प्राप्त होता है।

अब देखो भैया! कोई तो समय ऐसा आयगा कि यह सब छोड़कर ही तो जाना पड़ेगा। रहेगा इसका कुछ नहीं, पर जितने दिनका यह जीवन है उतने दिन तक तो यह गम नहीं खाता। रागद्वेष मोह करनेसे, हर्ष विषाद करनेसे तो यह बाज नहीं आता और छूटेगा तो एकदम छूटेगा, पर अपने मनसे अपने जीवनमें अपनी इच्छासे इन सबको नहीं छोड़ना चाहता। कोई धनकी तृष्णाको तृष्णा नहीं कहते हैं। नामकी तृष्णा, धनकी तृष्णा, परिवारकी तृष्णा, देशमें नेता कहे जानेकी तृष्णा, अनेक प्रकारकी तृष्णाएं हैं। इन तृष्णावोंके वश प्रभु अपनी प्रभुताका घात करके भिखारी बन रहे हैं। अर्थात् परकी आशा करने वाले बन रहे हैं। सो ऐसी बहिरंग दृष्टि वाले पुरुष ध्येयभूत परमात्मतत्त्वसे च्युत हो जाते हैं। यहां यह शिक्षा दी गई कि मिथ्यात्व रागादिक परिणाम आत्मध्यानके विघातक हैं और मिथ्यादृष्टि मोही रागी पुरुष भी आत्मध्यानके विघातक हैं। इसलिए उन रागादिक भावों

का और मोही रागी द्वेषी पुरुषोंका संसर्ग छोड़ना चाहिए। साधुजनोंका यह उपदेश है और गृहस्थजनोंका यह कर्तव्य है कि यथाशक्ति मोह रागद्वेषका संसर्ग छोड़ें। अधिकतर संग करें तो निर्मोह ज्ञानी, विरक्त, कल्याणार्थी सत्पुरुषोंका सत्संग करें। अब परद्रव्योंके संसर्ग और त्याग वाली बातको ही अब यहां कहते हैं।

जो कोई समतासे बाह्य पदार्थ हैं, निजभावसे पृथक् हैं उनके साथ संग मत करो, क्योंकि बाह्यके संगसे चितारूपी समुद्रमें गिरना पड़ेगा और सर्व दोहोंको प्राप्त होना पड़ेगा। भैया! एक बढ़ई और एक सेठ दो पड़ोसी थे। सेठकी तो हजारोंकी कमाई थी और बढ़ईके चार रुपये रोजकी कमाई थी। मगर बढ़ईके यहां बनें रोज हलवा पूड़ी और सेठके यहां बनें सूखी रोटी दाल। सेठानी रोज लड़ा करती थी कि इतनी कमाई होती है और फिर भी खाना सूखा बनता है और वह बढ़ई जो केवल चार रुपये रोज कमाता है वह गुलछर्रे उड़ाता है। सेठ रोज-रोज सुनकर हैरान हो गया। सेठानीसे कहा कि "सेठानी जी आप समझती नहीं हैं, हम तुम्हें समझा देंगे।" सेठने एक बार एक थैलीमें ९९ रुपये बांध लिए और रात्रिको बढ़ईके घरमें डाल दिये। बढ़ई सुबह उठा और थैली पाकर बड़ा खुश हुआ। उसे गिना— १०, २०, ५०, ७०, ८०, ९०, ९५, ९९। सोचा कि भगवान्ने एक काट लिया, नहीं तो मैं शतपति कहलाता। अच्छा इसकी पूर्ति आज ही करूंगा। सो उस दिन उसने तीन रुपयेमें ही गुजारा किया। फिर रातको बेचारा सोचे कि इतनेमें क्या सुख है, हजारमें सुख होगा। सो अब जोरसे जोड़ने लगा। सो चौथाई खर्च करे और तीन हिस्सा बचावे। अब तो उसके यहां सूखे ज्वारके रोटा बनने लगे। सेठने सेठानीसे कहा कि "देखो बढ़ईकी अब क्या हालत है?" सेठानीने देखा तो दंग रह गई। सेठसे कहा कि "अब तो बढ़ईकी बड़ी दयनीय दशा है।" सेठने कहा कि "अभी तक वह ९९के फेरमें न था, इसलिए सुख लूट रहा था। अब ९९के चक्करमें पड़ गया है।

सो बातें तो बहुत हैं, मगर दुःखकी बात है कि मनुष्यजीवन जैसा उत्कृष्ट जीवन पाया और जगत्में दिखने वाले जो मायामय स्वयं असार अपनेसे भी गए बीते जो लाखों हजारों पुरुष हैं, उन पर दृष्टि डालकर उनमें अपना बड़प्पन रखनेके लिए हर प्रकारसे धन वैभव आदिके संचय या नाना यत्नोंसे अपना श्रम किया। किसकी आशा करते हो? अपना शिवमय स्वरूप देखो। ऐसे भी बहुतसे पुरुष हैं जो चुपचाप कहीं भी थे और निर्वाणको प्राप्त हो गए। उनके सुखमें और ऋषभदेवके सुखमें कुछ अन्तर है क्या?

नहीं। आत्मीय आनन्द तो गुप्त है, वह गुप्त रीतिसे गुप्त ही रहकर प्रकट होता है। उसका बनावट, दिखावट, सजावटसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पहिले भी ये सब बनावट दिखावट, सजावट आदि थे, अब भी हो रहे हैं, यह तो कुछ दृष्टिकी बात चाहिए। दृष्टि जिसकी विशुद्ध है वह सब कुछ करता हुआ भी अपने हितका काम कर सकता है। दृष्टि चाहिए। कोई धन छोड़नेकी बात नहीं कह रहे हैं। दृष्टि हो तो ध्यान ज्ञानके लिए समय अवश्य निकाल लोगे।

कमाई की बात तो यह है कि घसियारे, लकड़हारे बेचारे और ये मजदूर सुबहसे शाम तक काम करते हैं और एक रुपया ही पाते हैं और एक कुछ भी नहीं करते हैं और सैंकड़ों हजारों की आय होती है। यह आय कुछ अंदाज हुए बिना ही हो जाया करती है। तो चिंतासे तो धनकी कमाई नहीं होती है। या उसमें बुद्धि और दिमाग लड़ानेसे तो धनकी कमाई नहीं होती। उदय अनुकूल है तो थोड़ी ही बुद्धि लगानेसे काम बनता है और उदय अनुकूल न हो तो कितना भी यत्न किया जाये, पर काम नहीं बनता है। सरकारी उलट पुलटके जमानेमें ऐसे ऐसे लोग बड़े मिनिस्टर हुए जो चौथी क्लास भी पास न थे। चाहे अब कानून बना हो कि इतनी योग्यता वाला मिनिस्टर हो सकता है। जब यह देखा कि मिनिस्टरीमें बिना पढ़े लिखे लोग आने लगे। टीकमगढ़ वगैरहमें ऐसी बहुत बातें हुई हैं। अब जाकर भले ही कुछ नियम बना हो।

इस धनका न तो बुद्धिसे सम्बन्ध है और न परिश्रमसे सम्बन्ध है, इसलिए इसकी चिंता क्या करें? चाहे फकीरीपन आए, जो अवस्था होगी उसमें ही व्यवस्था होगी। ऐसा साहस अन्तरमें हो तब जाकर धर्मके मार्ग में दृष्टि लग सकती है। ये समस्त परतत्त्व अपने स्वभावसे बाह्य हैं। अपना तत्त्व है ज्ञानदर्शनस्वभाव। परमात्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान् करें, ज्ञान करें और उसमें ही स्थिर हों—इस समता परिणामसे तो ये बहिर्मुखी दृष्टियां बाह्यतत्त्व हैं। यह चीज प्राप्त होती है साम्यभावसे। जीवन और मरणमें जिसको समानता दृष्ट हो तो उसे जीना भी और मरना भी एक ही समान हैं, ऐसी दृष्टि उस फकीराने दिलको ही हो सकती है जो किसी भी परद्रव्यसे अपना बड़प्पन और शरण न मानता हो। न यहां रहे और कहीं चले गए। जीवन मरण जिसे समान हों और लाभ अलाभ जिसे समान हों, कुछ मिला तो क्या और न मिला तो क्या? जीव अपने प्रदेशमें स्वरक्षित है। प्रत्येक पदार्थका अपना-अपना स्वरूप एक महागढ़ है, जिसको कोई भेद नहीं सकता।

भैया ! अपने स्वरूपमें न कोई आपत्ति है और न उपसर्ग है। कल्पना करलो तो सब आपत्तियां ही आपत्तियां हैं। एक छोटा बच्चा जो मांके पास बैठा है, उसे यह कल्पना हो जाये कि मुझे घर चलना है और यदि उसकी मां उसे घर न ले जाये तो वह कितना रोता है ? उसे दुःख क्या है ? गोद में बैठा है। जो चाहे खा पी ले, जो खेलना हो खेल ले। उस बच्चेको क्या कष्ट है जो तड़फता है, रोता है ? बस उसे एक कल्पना हो गई कि मुझे घर जाना है। वहां जानेसे उस ।। सालके बच्चेको क्या मिलता है ? घर जाने से उसे कोई लाभ तो नहीं है, सब कुछ तो उसकी मां है, पर एक उसकी कल्पनामें यह बैठ गया है कि मुझे घर जाना है, बस इसीसे उसे चैन नहीं है। कल्पनावश वह दुःखी है। कल्पनावश हो यह प्रभु यत्र-तत्र दुःखी होता फिरता है।

ये समस्त बाह्य पदार्थ, जिनकी दृष्टिमें मोही जीव रमता है, वे सब निजस्वरूपसे बाह्य हैं। उनके साथ तुम संसर्ग मत करो क्योंकि परके संसर्ग से चितारूपी समुद्रमें गिरोगे, जिसमें राग और द्वेषकी लहरें उठती हैं, ऐसी चितामें गिरोगे। कितना बड़ा बंधन है विचार और विकल्पोंका ? लोगोंमें मेरी ऐसी पोजीशन है, मैं इस शानका खर्च न करूं तो यह कैसे हो सकता है ? लोगोंमें हमारी ऐसी धाक है और मेरे विरुद्ध अगर कोई बोलता है तो हमारी इसमें बरबादी है। कितनी कल्पना उठी हैं ? चितासागरमें डूब जाता है, रागद्वेषोंकी कल्लोलोंमें बहता है। जो अपने कारणपरमात्माकी, अपने चैतन्यस्वरूपकी शरण नहीं गह सकता है, बाहर-बाहर ही जिसकी दृष्टि उठती है वह चितासागरमें डूब जाता है, अपने शरीरको दहता है, व्याकुल होता है। यहां यह भाव लेना कि वास्तवमें तो अपने जो रागादिक परिणाम हैं ये परतत्त्व हैं। बाह्यपदार्थोंको न आत्माने ग्रहण किया और न कोई ग्रहण कर सकता है, क्योंकि आत्मा अमूर्त है, बाह्यपदार्थ बाह्य ही हैं, वे पर क्षेत्रमें हैं, भिन्न हैं। और जब ग्रहण नहीं कर सकते हैं तो त्याग भी क्या करें ? ग्रहणका ही तो त्याग है। यह स्वरूपदृष्टिसे देखनेकी बात है। तब किसका ग्रहण किया था ? रागपरिणामका। बाह्यवस्तुओंको विषय बनाकर जो रागद्वेषकी कल्लोमें उठायीं उसे ग्रहण किया था तो अब उनका ही त्याग करना है।

निश्चयसे रागादिक जो विभावपरिणाम हैं, वे ही परपदार्थ कहलाते हैं। जो वीतराग निर्विकल्प समतापरिणामसे बिल्कुल विपरीत है और व्यवहारसे जो मोह रागद्वेषमें परिणत पुरुष है, वह भी पर कहलाता है। वह भी त्याज्य है। पर अन्य पुरुष विषयभूत बनें या न बनें, उसका नियम

नहीं है, मगर रागादिक परिणाम तो इस जीवको दुःखी करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। अब इस ही विषयको अर्थात् परका संसर्ग करना दूषण है इसे एक दृष्टांत द्वारा समर्थित करते हैं।

दुष्टोंके साथ जिसका सम्बन्ध हैं वह भद्र पुरुष भी है तो भी उसके सत्यशील आदिक गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे लोहेके सम्बन्धसे आग घनोंसे पीटी कूटी जाती है। अब बतलावो आगका क्या स्वरूप है? आग मोटी होती है कि पतली? कुछ आगका स्वरूप है क्या? आग लम्बी होती है कि गोल होती है? कुछ स्वरूप है क्या? ईंधनमें आग लगी हो और उसे गोल लम्बी कहें तो वह गोल और लम्बापन ईंधनका है, आगका नहीं है। कैसी निर्दोष, निरपराध बेचारी आग, जो न पिंडरूप है, एक भावरूप है किन्तु लोहेके साथ सम्बन्ध करे तो घनोंसे पीटी जाती है। लोहारका प्रयोजन आग पीटनेका नहीं है, लोहेको लम्बा चौड़ा करनेका है और वह लोहेको पीटकर ही करता है, पर चूँकि आगसे सम्बन्ध है इसलिए उसके साथ आग भी पिटी जाती है।

इसी प्रकार भद्रपुरुषके सत्य, शील आदिक गुण भी दुष्टोंके सम्बन्धसे नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् परपदार्थोंका सम्बन्ध करनेसे यदि स्वभावसे भी भद्र है यह जीव तो भी इसके परमात्माकी उपलब्धि करने रूप गुण नष्ट हो जाते हैं क्योंकि जीवने अपनी बुद्धिके दोषोंसे रागादिक आदि परिणामोंसे इन दुष्टोंसे अथवा मिथ्यात्वरागादिकमें पगे हुए पुरुषोंसे सम्बन्ध किया। इस लिए परमात्मतत्त्वकी उपलब्धि वाले गुण इसके खत्म हो जाते हैं। यहां यह शिक्षा दी है कि अपनेको रागादिक परिणाम, अपध्यानरूप परिणाम, भोगोंकी इच्छारूप निदान बंध—ये सब आत्मीयसुखके घात करने वाले हैं सो इनका संसर्ग त्यागना चाहिए और व्यवहारदृष्टिसे इन रागादिक भावोंमें परिणत जो पुरुष हैं उनका संसर्ग छोड़ना चाहिए।

अब मोहके त्यागका उपदेश करते हैं—

जोइय मोहु परिचयहि मोहु ण भल्लइ होइ।
मोहसत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ॥१०६॥

हे योगी! मोहको त्यागो। मोह भला नहीं होता है। मोहमें आसक्त यह सारा जगत् दुःखको सह रहा है। इस प्रकार तू देख। हे योगी! तू मोह को तज। यह मोहभाव निर्मोह परमात्मस्वरूपकी भावनासे विपरीत भाव है। निर्मोह भाव तो परमात्माका स्वभाव भाव है और मोह आत्माका विभाव भाव है। मोह छोड़ो क्योंकि मोह भद्र नहीं होता है। सर्वमोहासक्त जगत्को देखो और उसको परख कर भी अन्तरमें यह निर्णय करो कि मोहसे

भला नहीं होता। गुरुजी सुनाते थे कि एक शराब पीने वाला मनुष्य शराब की दुकानमें गया। दुकानदारसे कहता है कि हमें अच्छी शराब दो। तो दुकानदारने कहा कि अच्छी ही देंगे। बोला, नहीं हमें बहुत बढ़िया दो। कहा कि बहुत बढ़िया देंगे। दो-तीन बार ऐसा ही वह कहता ही गया। अंत में दुकानदार कहता है कि ये जो दुकान पर १०–२० तुम्हारे नाना चाचा पड़े हैं, जिनके ऊपर कुत्ते मूत रहे हैं उनको देखकर श्रद्धा करो कि हमारी दुकानमें बढ़िया शराब है कि नहीं? बारबार क्यों पूछते हो? सो जगत्के दुःखी मोहासक्त पुरुषोंकी दशाको देखकर तो यह निर्णय करो कि मोहसे भला नहीं होता है।

भैया! निर्णय करना और मोह छोड़ना करीब-करीब दोनोंका एक ही अर्थ है। मोहका छोड़ना कोई और क्रियासे नहीं होता है। जैसे हाथसे कपड़ा उठाकर फेंक दिया तो छोड़ दिया कपड़ा, इस तरह मोहका छोड़ना किसी क्रियाके द्वारा नहीं होता। जिन लोगोंके मोहभाव पर भाव है, बस इस जाननके साथ ही जो उपेक्षा हो जाती है उसी के मायने छोड़ना है। जैसे कहा जाये कि राग छोड़ दिया, तो राग कैसे छोड़ा? कोई टोपी तो नहीं है कि उतारकर फेंक दिया। लो छोड़ दिया। कोई कुर्ता कमीज तो है नहीं कि उतारकर फेंक दिया। रागका छूटना किस प्रकार हो? रागभाव परभाव है। मेरा स्वरूप नहीं है। यह क्षणिक है। दुःख देने के लिए ही आता है। इसका विपरीतस्वभाव है। वर्तमानमें भी दुःख दे रहा है और आगामी कालके लिए भी यह दुःखका साधन बनायेगा। ऐसा जब रागका स्वरूप श्रद्धानपूर्वक जाननमें आए और ऐसे ही जाननमें स्थिरता हो, इसीके मायने हैं रागका त्याग किया। रागका त्याग करना और ज्ञातामात्र रहना दोनोंका एक मतलब है। जाननहार रहनेसे परवस्तुसे अपना हित न मानना, अपना सम्बन्ध न जोड़ना, यही उसका त्याग कहलाता है। मोह भद्र नहीं होता है। रागका त्याग ज्ञातामात्र रहनेको कहते हैं।

यह सारा जगत् मोहमें आसक्त है, निर्मोह शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित है, इसी कारण निरन्तर दुःखोंको सह रहा है। विकल्प ही एक क्लेश है। जिसको क्लेशोंसे निवृत्त होना हो उसे विकल्प न करनेका अभ्यास करना चाहिए और विकल्प न करनेका अभ्यास सामायिकका रूप है। सामायिकका अर्थ ही है कि अन्यपदार्थोंका विकल्प न करें, ऐसा अपना दृढ़ अभ्यास बनाएँ। सामायिक करते हुएमें कोई चींटी काटे और यह विकल्प करें कि इसको हटा लें, फिर समतासे सामायिक करेंगे तो जो वर्तमान साधारण स्थितिमें भी विकल्प करने लगा और समतासे च्युत

होने लगा तो ऐसी योग्यता वालेसे यह आशा नहीं की जा सकती है कि चींटी हटा देनेके बाद भी वह समतासे सामयिक करलें। इसलिए वहां अभ्यास ज्ञानमय यह करना चाहिए कि देह भिन्न है, मैं भिन्न हूं। अच्छा, चींटी काटती हैं तो क्या हो गया? विष तो चढ़ा नहीं जाता। ऐसा तो है नहीं कि उसके काटनेसे जानका खतरा आ जाये। इतने छोटे उपद्रवका भी अभ्यास न कर सके, तो कदाचित् जिस पर कुछ बस न चल सके ऐसा कोई जानवर या अन्य कोई उपद्रव करने लगे तो उस समय वह अपने ज्ञानभाव की रक्षा कैसे कर सकेगा? इसलिए निर्विकल्प होनेके अभ्यासके लिए जिसने सामयिक करना शुरू किया है, वह अपनी योग्यता माफिक उपद्रवोंको सहने का भी उत्साह बनाए रहता है।

यह सारा जगत् मोहासक्त है, निर्मोह शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित है। सो देखो इसमें निरंतर आकुलताके उत्पन्न करने वाले दुःख हो रहे हैं। कहां तो इस आत्माका अनुकूल रहना पारमार्थिक स्वभाव था और कहां उससे विपरीत अनेक आकुलताएं उत्पन्न हो रही हैं। इसलिए मोहकी वृत्ति करने वाला पुरुष इस संसारमें भद्र नहीं होता है। यहां यह शिक्षा लेना है कि बाहर पुत्र स्त्री आदिकमें तो मोह करना ही न चाहिए और पहिले छोड़े हुए स्त्री, पुत्र आदिकका वासनाके वशसे स्मरण हो आया करता है वह भी न करना चाहिए, यह तो ठीक है, मगर शुद्धआत्माकीभावना रूप तपस्याके साधक शरीर को स्थित रखने के लिए जो भोजनपान ग्रहण किया जाता है उस भोजनपानमें भी मोह न करना चाहिए। यह ग्रन्थ साधुजनोंको सम्बोधने की मुख्यतासे बनाया गया है। उनको कहा जा रहा है कि पुत्र, स्त्रीका तो मोह करना ही न चाहिए, पर भोजनपानका भी मोह न करना चाहिए। यद्यपि इस आहारदानका बहुत कुछ सम्बन्ध धर्मसाधन के साथ है। भोजन किया जाता है शरीरकी स्थितिके लिए। शरीरकी स्थिति रहे तो वह है तपस्याका साधक। भोजनपान यद्यपि साधु अवस्थामें आवश्यक है तो भी इसमें मोह न करना चाहिए। भोजनपानका भी मोह न करना चाहिए, इस सम्बन्धमें तीन गाथाएं प्रक्षेपकरूप अन्य ग्रन्थोंसे जो लिखी हुई हैं उनको कहा जा रहा है।

काऊण णग्गरूवं वीभत्सं दड्ढमडयसारिच्छं।
अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥११०॥

हे मुने! बहुत सुन्दर शब्दोंमें कहा है और डाट कर कहा है कि जले और मरेकी तरह वीभत्स नग्नरूप रखकर भी भिक्षामें मिष्ठ भोजन यदि चाहते हो तो तुम्हें लज्जा नहीं आती है। अरे कहां तो शुद्धआत्माकी साधना

के लिए ऐसा रूप बनाया जिस पर मैल चढ़ा हुआ है। भयावहरूप रहता है, नग्नरूप है, जले और मरेकी तरह है। यहां दग्ध और मृतक शब्द दिए गये हैं। जो तपस्वीजन होते हैं वे पुष्ट शरीरके नहीं होते हैं। उनके हड्डियां निकली हुई होती हैं। चमड़ी भी बड़ी करकशा है, कितना वीभत्सरूप हो जाता है, जिसे कहते हैं अधजला, अधमरा। ऐसा तो स्वरूप रखे, जो रत्नत्रय की साधनाकी दृष्टिसे पवित्र स्वरूप है, ऐसा नग्नरूप रखकर भी भिक्षामें मिष्ट भोजनकी यदि वाञ्छा चलती है तो तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती ?

यह नग्नरूप निर्ग्रन्थ जिनरूप है। भगवान्का स्वरूप वीतरागताका है ना ? तो भगवान् खुद कपड़े पहिनते हैं या दूसरा कपड़े पहिनाता है ? जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, परमात्मा है, यह यदि खुद अपने आप पहिने तो सब लोगोंकी तरह हो गया। कुछ उसमें बड़प्पन न आया। जैसे लोग कायर बनकर गर्मी सर्दी न सह सकनेके कारण रागवश बनियान, कमीज, कुर्ता, कोट नाना तरह के कपड़ोंको पसंद करके पहिना करते हैं, ऐसे ही भगवान् ने पहिन लिया तो क्या कुछ उनमें भगवता नजर आयी ? नहीं। और दूसरे पहिनाएं यह भी बात कुछ समझमें नहीं आती। वह प्रभु तो १८ दोषोंसे रहित है। परमात्माका स्वरूप तो अन्तरमें आत्माका है। अब शरीरकी कौन परवाह करे। इसलिए परमात्माका स्वरूप नग्नस्वरूप है और उस परमात्मस्वरूपके पाने की धुनिमें जो साधु रहता है वह भी उसी मार्गका आश्रय लेता है। अथवा जिसको केवल एक परमात्मस्वभावकी साधनाकी धुनि है ऐसा पुरुष केवल एक परमात्मस्वभावकी सिद्धिकी बात करेगा। अन्य वस्तुवों से उसे प्रयोजन नहीं रहा। सो सब छूट गया। रागका विकल्प रंच भी करना नहीं चाहता है। इस कारण वह नग्नजिनस्वरूपको धारण करता है।

कैसा जिनस्वरूप धारण किया है इस साधुने, जो कि वीभत्स है भयानक है। अव्वल तो कोई भी, कपड़ों वाला भी साधु संन्यासी सड़कसे गुजरता है तो बालबच्चे डरकर घरके भीतर घुस जाते हैं। बाबा आया, पकड़ लेगा। कितना डर लगता है और फिर जिसका रूप मोह न होनेके कारण रूखा है, भद्दा है, केशोंका खुद लोंच करता है तो बाल बड़े होंगे तो ढंगसे न बड़े होंगे, कहींके कहीं जा रहे हैं– ऐसे साधुको देखकर तो ऐसा पुरुष जिसको समीचीनता का पता न हो, अपरिचित पुरुष हो वह कितना डर ककना है ? फिर कैसा है वह निर्ग्रन्थ रूप ? दग्ध मृतकके सदृश। ऐसे रूपको धारण करके यदि हमें भिक्षामें मीठा भोजन मिले, ऐसी तुम गृद्धता करते हो तो क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती है ?

श्रावक जनोंको आहार, औषधिका दान देना चाहिए। जिसने आहार दान दिया उसने साधुको तपश्चरण ही दे दिया, ऐसा समझना चाहिए क्यों कि तपमें, स्वाध्यायमें प्रवृत्ति साधु तब ही तो करेगा जब शरीर की स्थिति ठीक होगी और शरीर की स्थिति तब ठीक होगी जब साधु भोजन-पान करेगा। इसलिए जिसने आहारदान दिया उसने मानों शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका साधक बाह्य आभ्यंतर भेदसे बारह तरह का तप ही दे दिया ऐसा समझना चाहिए। जहां दानोंकी महिमा गायी गई है वहां सभी दानोंकी महिमा गायी है, पर आहारदानकी महिमा और ज्ञानदानकी महिमा कुछ विशेषरूपसे गायी गई है। साधुके देहकी स्थिति भी अच्छी उस गृहस्थने कर दी है जिसने आहार दान दिया है। शुद्ध आत्माकी भावनारूप संयमका साधक है शरीर। सो उस शरीरकी भी स्थिति उस गृहस्थने ठीक की जिसने आहारदान किया। ठीक है। और शुद्ध आत्माकी अगले भवमें प्राप्ति हो, ऐसे भवांतरकी गति भी मानों श्रावकने दी। कितनी आहारदानकी महिमा बतायी है कि वर्तमानमें तप आदिमें देहकी स्थिति दी और भवांतर अच्छा मिले तो उसका भी कारण मूलसे गृहस्थ है।

यद्यपि चार प्रकारके दान श्रावक देता है, ठीक है, किन्तु निश्चय व्यवहाररत्नत्रयका साधक जो तपस्वी है वह आहार आदिको ग्रहण करनेमें भी मोह नहीं करता। यह तात्पर्य बताया गया है। श्रावक अपनी ओरसे अच्छासे अच्छा भोजन देनेका यत्न करे वह ठीक है, पर ग्रहण करने वाले तपस्वी को किसी भी प्रकारके मिष्टान आदिक भोजनमें अभिलाषा, रुचि अथवा मोह नहीं करना चाहिए। इस बातको इस दोहेमें कैसे कड़े शब्दोंमें कहा गया है कि जले और मरे की तरह निर्ग्रन्थ भेष धारण करके भी यदि मधुर भोजन की अभिलाषा करता है तो हे मुन्ने! तुझे शर्म नहीं आती है। मोह नहीं करना है, इसी सम्बन्धमें दूसरी प्रक्षेपक गाथामें कहते हैं।

जइ इच्छसि भो साहू बारहविह तवहलं महाविउलं।
तो मणवयणे काये भोयणगिद्धी विवज्जेसु ॥११२॥

हे साधो! यदि तू १२ प्रकारके तपोंका विपुल फल चाहता है तो मन, वचन, कायसे भोजनकी गृद्धिको छोड़। प्रथम तो जो शुद्ध आत्माकी भावना में रत होने वाला जो मुनि है उसे भोजन करने का अवकाश ही नहीं है। और जब कठिन क्षुधाकी वेदना हो जाती है और जिस समय भोजन करने के सिवाय और कुछ इलाज नहीं जानता है तो चर्याको उठता है। उस मुनि को ज्यादा टाइम नहीं है, विकल्पोंमें पड़कर मौज मानने का, सो खड़े ही खड़े आहार करके तुरन्त साधनाके लिए वापिस हो जाता है। ऐसे कर्तव्य-

मार्गमें रह कर भी कोई साधु मिष्ठ भोजनमें राग करे, वाञ्छा करे, मौज माने तो कहते हैं कि हे साधु ! इस भोजनकी गृद्धिका फल तपस्याको विफल कर देना है। यदि स्वर्ग अथवा मोक्षरूपी कोई महान्फल तुम चाहते हो तो वीतराग आत्मीय आनन्दरूप एक सुखरसके स्वादके अनुभवसे तृप्त रहो। मन, वचन, कायसे भोजनकी गृद्धिको छोड़ो।

एक साधु हमारे साथ कुछ समय रहे। तो वे पहिले स्थानकवासी साधु थे। तो उन्होंने कथा सुनाई कि एक साधु आहार को गए। सो गृहस्थ दूध देने लगा सो दूध देते हुएमें मलाई होती है ना, सो वह भी साथमें आने लगी। सो वह गृहस्थ उस मलाई को जरा रोक करके दूध डालने लगा तो साधु कहता है कि अरे उस कूड़ेको भी आने दो। मलाई में जरासी राख का कण पड़ जाय तो वह ऊपरसे कूड़े जैसी मालूम होता है ना, सो उसने कूड़ा कहा। उसका प्रयोजन कहनेका यह था कि यह मिष्ठ चीज है इसे भी आने दो, रोको मत। तो ये सब गृद्धिके परिणाम हैं। और एक जगह उसे एक महिलाने मना कर दिया कि अभी नहीं है तो उसे गुस्सा आ गया। स्त्री थी, सो स्त्री से बोला कि तू रत्नप्रभामें जायेगी। रत्नप्रभा पहिला नरक है ना, वह बेचारी स्त्री कुछ पढ़ी लिखी न थी, सो सोचो कि जहां रत्नोंकी प्रभा हो वहां वह कैसे जा सकती है ? सो वह कहती है कि महाराज ! हमारा कहां इतना भाग्य है कि हम रत्नप्रभा में जायें, ऐसा तो तुम्हारा ही भाग्य हो सकता है। अब इसी सम्बन्धमें एक प्रक्षेपक दोहा और कहा जा रहा है।

जे सरसिं संतुट्ठमण विरसि कसाउ वहंति।
ते मुणि भोयणघार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥११३॥

जो योगी स्वादिष्ट आहारसे संतुष्ट चित्त होता है और नीरस आहार में क्रोधादिक कषाय करता है, वह मुनि भोजनके विषयमें गृद्ध पक्षीके समान है, ऐसा तू समझ। वह परमतत्त्वको नहीं समझता है। नीरस आहार कहीं हो तो अंतराय जल्दी हो जाये और सरस आहार हो तो वहां अंतराय देरसे होता है (यह हम हंसीकी बात कह रहे हैं) दिगम्बर सम्प्रदायमें श्रावकके घर पर ही भोजन करनेके बहुत रहस्य हैं। अपने घर मांगकर ले जाये और खाये तो मनचाही विधिसे खा सकता है। उसमें बाल निकल आये, कीड़ी निकल आए तो उसे निकाल कर भी खालें, ऐसा कर सकते हैं, किन्तु श्रावक के यहां भोजन किया जा रहा हो तो वहां अंतराय नहीं छिपाया जा सकता। बाल, कीड़ी निकल आए तो वहां अंतराय करना ही पड़े। मनचाहे विधान से भोजन नहीं कर सकते हैं। जो दिया जाये सो ले। मांगकर लानेमें तो कुछ भी खा ले, सो यही ठीक है गृहस्थके घर कैसा भी मिले, किन्तु मिले

शुद्ध सबमें संतुष्ट रहने का अभ्यास बनाये।

दूसरी बात यह है कि मांग कर ले और अपनी जगह पर खाये तो चार छः बर्तन तो रखने ही पड़ेंगे। किसीमें दाल ली, किसीमें साग ली, किसीमें रोटी ली। तो इतना संगमें परिग्रह रखनेसे उसको संभालना भी होगा। सुबहका लाया हुआ भोजन बच गया तो उसे संभालकर आलेमें धर दिया और श्यामको वही खा लिया। यदि सुबहका बचा हुआ भोजन श्यामको खानेका संस्कार बना है तो स्वानुभव या कोई झलक उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं है। उसका तो चित्त है कि कब तीन बजें, कब ५ बजें। फिर मांगकर खानेमें खानेके बारोंकी भी कुछ सीमा नहीं रह सकती है। दो बार खावें, चार बार खावें, रखा ही तो है। फिर ४--६ बार मांग भी लावें उसमें शरम नहीं आयेगी।

यहां जो विधानकी बात बतायी गई है वह बिल्कुल युक्त है, किन्तु आजके जमानेमें श्रावकोंके यहां करीब सबके या बहुतोंके शुद्ध भोजन उन्हें खाने के लिए ही बनना चाहिए। उस ओरसे जो ढील हुई है श्रावकों की ओरसे, जिससे आज साधुकी आहारव्यवस्थाकी विडम्बना बनी है यदि सब श्रावकों के यहां शुद्धभोजन खाया जाता होता तो विडम्बना न मालूम होती। श्रावकों ने अपनी शुद्ध खानेकी प्रकृतिको छोड़ दिया है तो मुनियों को भी छोड़ देना चाहिए, तब तो दोनोंका बड़ा अच्छा निर्वाह हो। तो श्रावकोंने तो छोड़ा, पर मुनियोंने नहीं छोड़ा। ठीक है, छोड़ना भी न चाहिए था, चाहे जैसी कष्टकी बात आए। कारण यह है कि साधु परमेष्ठीमें शामिल है। परमेष्ठीका स्वरूप निर्दोष रहना चाहिए, जिसको हमने आदर्श माना है। श्रावकजन चाहें किसी बातमें त्रुटि करें तो करें? श्रावकके स्वरूप नाना तरहके हैं। कोई अविरति हैं, कोई बहुत प्रतिभाके हैं, पर साधु का स्वरूप नाना तरहका नहीं है। जैसे अरहंत सिद्ध प्रभुका स्वरूप एक कहा गया है इसी तरह साधुका स्वरूप भी एक कहा गया है। इस कारण साधुका स्वरूप निर्दोष होना ही चाहिए।

यहां यह भावार्थ लेना चाहिए कि गृहस्थोंका आहारदान देना ही परम धर्म है। और सम्यक्त्वपूर्वक दान देने की विधि रहे तो वे मोक्षको परम्परया प्राप्त करते हैं क्योंकि गृहस्थका परमधर्म आहारदान देना है। आहार-दान देना गृहस्थोंका परमधर्म क्यों है कि गृहस्थ निरन्तर विषय-कषायोंके आधीन हैं, उनके आर्तध्यान और रौद्रध्यानका भी प्रसंग है। उनको रत्नत्रय रूप शुद्ध धर्म करने का अवकाश ही कहां है? तब उनका यह परमधर्म है

कि शुद्धोपयोगमें रत मुनियोंकी सेवा शुश्रूषा करें। पर शुद्धोपयोग धर्मका लक्ष्य रखने वाले तपस्वीजनोंको आहारदान लेने के विषयमें गृद्धता नहीं करनी चाहिये, समता करनी चाहिए और जैसा मिले किन्तु शुद्ध, उससे ही संतोष करना चाहिए।

शुद्ध आत्माकी जब उपलब्धि नहीं होती है तो इन्द्रियके विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, और विषयोंमें आसक्ति होने पर इस जीवका विनाश देखा जाता है। इसी बातको इस दोहेमें कह रहे हैं।

रूवि पयंगा सद्दि मय गम फासहि णासंति।
अलि उल गंधह मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥११४॥

रूपमें आसक्त हुए ये पतंगे रूपके विषयोंके कारण नष्ट हो जाते हैं। इनके मन तो है नहीं, पर रूपका इतना तेज विषय है कि वे उस पर गिरते और मर जाते और ये मरे हुएको भी देख रहे हैं। इतना तो कमसे कम जानते ही होंगे कि ये हमी लोग हैं। उनके मन नहीं है क्योंकि मन उसे कहते हैं जो हित और अहितका विवेक करे। सो ऐसा मन तो उनके है नहीं, किन्तु साधारणतया इतना तो वे जानते ही होंगे कि ये पतंगे ही हैं। उन शब्दोंमें न जानते होंगे, लेकिन उनके आंखें हैं। वे किसी अन्य जीवके पास तो नहीं बैठते हैं, और पतंगे हों तो उनके पास वे बैठ भी जाते हैं। तो औरोंसे बचाव रखना और अपनी जातिके पतंगोंसे हटनेका बचाव न रखना—ये प्रवृत्तियां उनमें किस आधार पर होती हैं? कुछ तो जानते ही होंगे कि ये पतंगे हैं, पर उनके ऐसा संस्कार है कि अपने पतंगोंमें तो वे आरामसे बैठेंगे, और अन्य जीवोंके पास वे न बैठेंगे। ये मक्खियां जो रसोईघरमें भिनभिनाती हैं, वे ततइया या किसी और जानवरके पास नहीं बैठती हैं ऐसा देखा होगा। तो वे मक्खियां जो मक्खियोंके ही पास बैठती हैं, चाहे जिस रूपसे हो उनमें एक तरहके विश्वासका माद्दा है कि ये हमीं लोग हैं, मक्खियां ही हैं तो उन पतंगोंको ऐसा ही साधारणसा ज्ञान है, उनके कोई विशेष मन नहीं है, विशेष नहीं जान सकते हैं, पर संस्कारवश कुछ थोड़ासा बोध रहता है। सो वे पतंगे मरते हुए पतंगोंको भी देख रहे हैं और फिर भी उस दीपक पर ही पड़ जाते हैं। उन्हें हित और अहित का विवेक नहीं है।

जिस तरह रूपमें आसक्त पतंगेरूपके विषयोंके कारण जलकर मर जाते हैं, इसी तरह शब्दके विषयके कारण हिरण, सांप आदि मर जाते हैं। शिकारी लोग बीन बजाकर या जिस जानवर को जो शब्द प्रिय हुए उसको वे बजाकर उस जानवरको वे पकड़ लेते हैं; क्योंकि वे हिरण, सांप आदि

जानवर उन शब्दोंमें आसक्त हो जाते हैं और बंधमें आ जाते हैं, फिर अवसर पाकर विधिवत् शिकारी पकड़ लेते हैं। तो शब्दोंके रागके कारण ही ये हिरण, सांप आदि जानवर मारे गए।

स्पर्श रागके कारण हाथी मारा जाता है। इसी प्रकार गंधमें आसक्त होकर भँवरोंका समूह नष्ट हो जाता है। भँवरे शामके समय गंधके कारण कमलके कोमल फूलों पर जाकर बैठ गया, रात्रि होते ही फूल बंद हो जाता है। तो फूलके अन्दर यों ही दम घुटने से या हाथी वगैरह आकर खा गया, इस तरहसे वह भँवरा मर जाता है। जिस भँवरेमें इतनी शक्ति है कि मोटे काठको भी छेद दे, वह भँवरा गंधमें आसक्त होकर कमलके फूलको नहीं भेद पाता है और अपने प्राण गंवा देता है। इसी प्रकार रसनामें आसक्त होकर मछली नष्ट हो जाती है।

तो ये सब विषयानुरागके कारण ही नष्ट हो जाते हैं। तो ऐसा दिखा कर यहां यह शिक्षा दी गई है कि विषयानुराग अच्छा नहीं है, विषयोंके अनुरागके पीछे बड़ा पछतावा होता है। खूब जो खा चुके उसे खा चुकनेके बादमें कष्ट होता है। गंधीगरकी दुकान पर बैठ जावो तो पहिले १०—१५ मिनट तो अच्छा लगेगा, पर जैसे ही नाकमें कोई गंध भर गई तो फिर वह गंध नहीं सुहाती है। इसी तरह कोई रूप साधारणतया निरख लो तो सुहाना लगता है, पर टकटकी लगाकर आंखें फाड़कर निहारो तो फिर उससे मन ऊब जाता है। इसी तरह सभी विषयों में ऐसी ही बात है कि थोड़ी देरमें ही उससे मन ऊब जाता है और मन ऊब जानेके बाद फिर दुःख होता है।

भैया! विषयोंके भोगनेकी ताकत भी जीवमें तब बनती है जब विषयोंका कुछ त्याग हो। जैसे दूसरे दिन भोजन करने की ताकत तब बन सकती है जब कि १२ घन्टेके भोजन का त्याग हो। सुगंध तब आती है जब बहुत समय तक सुगंधमें न रहें। इसी तरह सभी विषयोंकी बात है। उन विषयोंके त्यागनेके बाद उन विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति बढ़ती है। तो त्यागकी ऐसी महिमा है कि विषयोंका भोग भी, विषयों का मौज भी विषयों के त्यागके बिना नहीं बन सकता। कोई खूब बढ़िया चीज खालो, निरंतर उसे खाते रहें तो जी ऊब जाता है। १०—२० दिनमें ही यह दिल कहता है कि मूंगकी दाल और रोटी खायें। तो बिना विषयोंके त्याग किये विषयों का मौज भी नहीं मिलता है। विषयोंके भोगनेकी सामर्थ्य तब मिलती है जब उनका त्याग करके रहें। और जो बिल्कुल ही त्याग करते हैं वे आत्माके उस शुद्ध स्वरूपकी झलक लेते हैं। उनके आनन्दका तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता।

भैया ! आत्मीय आनन्दकी बात बनाने, दिखाने, सजाने से नहीं बनती है। जो ऐसे आत्मीय आनन्दको प्राप्त करता है उसे इस जगत्में किसी भी प्रकारकी वाञ्छा ही नहीं होती है। उसका ऐसा दृढ़ निर्णय है कि जगत्के किसी भी जीवसे मेरी बाबत कुछ भी प्रशंसाके शब्द कहे जायें अथवा निन्दाके शब्द कहे जायें उससे मेरेमें कुछ फैर नहीं पड़ता है। जगत्के जीव अपने-अपने कषायके अनुकूल निन्दा करें, अपयश करें तो उससे मेरेमें कुछ फर्क नहीं आनेको है। यह ही मैं स्वयं विरुद्ध परिणमूं तो स्वयं दुःखी होऊं, और स्वभावके उन्मुख होऊं, सत्पथ पर रहूं, अपने आनन्दस्वभावका अनुभव करूँ, ज्ञाता दृष्टा रह सकूँ तो यह मैं स्वयं आनन्दमग्न हो जाऊँगा-- ऐसी उसकी दृढ़ रुचि है स्वभावमें कि वह अपने काममें मस्त रहता है।

यह जीव एक एक इन्द्रियके वश होकर विषयोंमें अनुराग करके नष्ट हो जाता है तो जो पांचों इन्द्रियोंके वश हो उसके विनाशकी क्या कथा कहें? क्यों नष्ट हुआ यह कि इसको शुद्ध आत्माकी भावना नहीं रही। शुद्धआत्मा कहो या केवल आत्मा कहो, खालिश आत्मा कहो, स्वभावमात्र आत्मा कहो। अपने आपके सत्वके कारण जो कुछ इसमें है तावन्मात्र आत्मा उसकी भावनासे रहित जीव पंचइन्द्रियोंकी अभिलाषाके वश होकर नष्ट हो जाता है। कैसा है यह कारण समयसार जिसको कि शुद्धोपयोग स्वभाव परमात्मत्व बनाना नहीं पड़ता, किन्तु जो बनाया गया है, उसको मिटाते-मिटाते जब बनावट पूरी मिट जाती है तो वह जो था, सो ही स्पष्ट प्रकट हो गया, इसी को कहते हैं परमात्मा। तो इस कारणसमयसारमें शुद्धोपयोगका स्वभाव है जो कार्यसमयसारका उत्पादक है। कार्यसमयसार है केवलज्ञानादिककी व्यक्ति, गुणोंका शुद्ध विकास होना--यही कार्यसमयसार है और कारण-समयसार है। उस शुद्धविकासका जो स्रोत है सहजज्ञानस्वभाव, उसका परिचय हो जाना, परिज्ञान होना--यही है कारणसमयसार और कारण-समयसार है वह स्वभाव जो सदा रहता है।

पर्यायरूप कारणसमयसार और कार्यसमयसार तो अभव्यके होते नहीं, पर द्रव्यरूप कारणसमयसार अभव्यके भी होता है। यदि केवल-ज्ञानादिककी शक्ति अभव्यके न होती तो केवलज्ञानावरण उन पर क्यों लदता ? अर्थात् जीव-जीव चूँकि एक स्वभाव निष्पन्न हैं अतः स्वभावकी अपेक्षा किसी जीवसे किसी जीवमें भेद नहीं किया जा सकता--ऐसा यह कारणसमयसार है। स्वभावके नमस्कारमें अभव्य या भव्यका भेद नहीं किया जाता। यदि अभव्य या भव्यको भेददृष्टिमें रखकर किया जाये तो उसे स्वभावकी दृष्टि नहीं है। इसलिए जहां स्वभावको नमस्कार है। वहां अभव्य

के स्वभाव का या भव्यके स्वभावका नमस्कार नहीं है, किन्तु जीवको नमस्कार है।

पंचइन्द्रियोंके विषयों की जो इच्छा है उसको लेकर जितने भी अपध्यानके विकल्प हैं उन विकल्पोंसे रहित यह कारणसमयसार है। यह कारणसमयसार परमआल्हादरूप सुखामृत के स्वादसे पूर्ण कलशकी तरह भरा हुआ है। जैसे किसी कलशमें पानी भरा हो तो उस पानीमें सर्वत्र धन हैं, एक रस है। यदि किसी कलशमें लड्डू भर दिये जाते तो उनके बीचमें रिक्त स्थान रहता है, इसी प्रकार आत्मामें ज्ञान और आनन्द भरा हो और बीच बीचके प्रदेश रिक्त हों, ऐसा नहीं है। किन्तु जिस कलशमें जल भरा है तो उसके बीच एक सूत भी जगह ऐसी नहीं है जहां पानी न हो। हो नहीं सकता ऐसा। यदि बीचमें डला डाल दिया जाये तो नहीं है पानी पर पानी-पानीमें जितने में भरा है, उतने में अन्तर नहीं है। इस कारणसे इस आत्मा को पूर्ण कलशकी तरह भरा हुआ बोला करते हैं। और इसीसे जब घड़ा भरे हुए कोई महिला या पुरुष लाता हुआ आए तो उसे सगुन मानते हैं।

क्या घड़ा सगुन है, मिट्टी सगुन है, अजीव पदार्थ सगुन है? नहीं। यह ध्यान शुरूसे ही चलता आया है। जब लोगोंकी दृष्टि ऐसी थी कि उस जलपूर्ण कलशको देखकर आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूपका ख्याल हो जाता था, किसी जमानेमें अध्यात्मचर्चा बढ़ी हुई थी, दृष्टांत खूब चलते थे तो जलपूर्ण कलश दृष्टांतमें प्रसिद्ध हो रहा होगा। उस समय जब जलसे युक्त घड़ा देखा तब ही लोगों की आत्मस्मृति होने लगी होगी और उसे सगुन मानने लगे। सगुन तो वह है जिसको देख कर, सोचकर आत्मामें आनन्द उत्पन्न हो। और जिसे देखकर अशांति हो, संक्लेश हो, उसे कैसे सगुन कहा जा सकता है? तो उस जलपूर्ण कलशको देखकर आत्माके स्वरूपकी स्मृति हो जानेसे आत्मस्वभाव दृष्टिके कारण शांति प्राप्त होती थी, तो वह सगुन माना जाता था। ऐसे सुखामृत रससे भरा हुआ यह कारणसमयसार है। यही चैतन्यस्वभाव है।

स्पर्शन आदिक इन्द्रिय कषायोंसे अतीत जो निर्दोष परमात्मा है उसके श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप निर्विकल्प समाधिसे यह सुख उत्पन्न होता है जो रागद्वेष रहित है, परम आह्लादको लिए हुए है– ऐसा यह कारण-समयसार दर्शकोंको आनन्द उत्पन्न कराने वाला है। शुद्ध भावनासे रहित जीव पंचेन्द्रियके वशमें होकर नष्ट हो रहे हैं, ऐसा जानकर विवेकी पुरुष उनमें क्यों राग करेगा? इसमें चूजकी बात यह कही गई कि एक-एक इन्द्रियके विषयमें जब भ्रमर, हिरण, सांप, हाथी, मछली आदि मर गए तो

जो पंचइन्द्रियोंमें मोहित हैं वह तो विशेष रूपसे नष्ट हो जाता है--ऐसा समझना चाहिए। अब लोभ, कषायके दोषको इस दोहेमें दिखाते हैं।

जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११५॥

हे योगी! लोभको छोड़ो। लोभ भला नहीं होता है। लोभमें आसक्त हुए इस समस्त जगको देखो ना, कैसे ये दुःख सहन कर रहे हैं? लोभ कषाय से विपरीत परमात्मस्वभाव है और उस परमात्मस्वभावसे विपरीत लोभ है। परमात्मस्वभाव स्वयं आनन्दस्वरूप है और लोभ कषाय दुःखका कारण है। हे प्रभाकर भट्ट! जिस कारणसे निर्दोष परमात्माकी भावना से मलिन होकर जीव दुःखोंको भोगता हुआ रहता है, इस कारण उस निर्दोष परमात्मा की भावना ही करो। अब इस ही लोभ कषायके दोषका एक दृष्टांतसे समर्थन करते हैं।

तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय लुंचोडु।
लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्ख पडंतउ तोडु ॥११६॥

जैसे लोहेका सम्बन्ध पाकर अग्नि नीचे रखी हुई निहाईके ऊपर घन के चोट सहती है ना, इसी प्रकार जिन जीवोंके लोभ लग गया है उन जीवों को नाना प्रकारके दुःख होते हैं। प्राकृतमें लोह और लोभ दोनोंके एक ही शब्द हैं। प्राकृतमें लोहुके मायने लोहा भी है और लोभ भी है। तो लोह का सम्बन्ध हो गया इसलिए अग्नि टूटती है, उस पर चोट लगती है, इसी तरह जिन जीवोंके लोभ लग गया वे जीव भी नाना प्रकारसे दुःखी होते हैं। जैसे अग्निका टूटना, खण्डन करना लोहेके सम्बन्धके कारण है—खाली अग्नि पड़ी हो तो उसे कौन तोड़ेगा? खाली अग्नि तो किसी ने देखा न होगा। या तो कोयले की या लोहे की या लकड़ी की या कंडेकी देखी होगी और किसी की अग्नि न हो, खाली अग्नि हो--ऐसा किसी ने न देखा होगा।

अब जैसे तारोंमें जो बिजली जलती है वह अव्यक्त है। वह गर्मी स्वरूप हैं या सम्भव है कि गर्मी स्वरूप भी न हो, क्योंकि उस बिजलीसे कुछ ठंडा भी तो किया जाता है। पर उसके मूलमें गर्मी है। सड़कोंपर जो खम्भोंमें तार लगे हैं उनमें बिजली बराबर चल रही है, मगर हमें नहीं दिखती है। कहीं व्यक्तरूप पहुंचती है और कहीं अव्यक्तरूप लहरें खाती है। सो अग्निनामक चीज जो पकड़में नहीं आ सकती, देखनेमें नहीं आ सकती उसको भी तोड़ें, खण्डन करें, कुछ भी कर डालें। तो जैसे लोहेके पिण्डके सम्बन्धसे अग्नि देवता भी पीटा जाता है, टुकड़े किये जाते हैं, इसी प्रकार

लोभ आदिक कषायोंसे परिणमता हुआ और पंचइन्द्रियोंके व शरीरके सम्बन्धसे यह परमात्मदेवता चैतन्यस्वरूप अनेक जन्मोंमें दुःख पाता है, नारक आदिक दुःखोंको सहता है।

जिन लोगोंने अग्निको पूज्य माना है वे लोग अग्निको देवता मानते हैं। तो जैसे लोहेके सम्बन्धसे अग्नि देवता तोड़ा पीटा जाता है, इसी प्रकार लोभके सम्बन्धसे यह चैतन्य भगवान् परमात्मदेवता प्रभुस्वरूप जन्म-जन्म में, दुर्गतियोंमें नानाप्रकारके घात आदि दुःखोंको सहता है। इस कारणसे क्या करना चाहिए? स्नेहका त्याग करना चाहिए। इसही शिक्षाको अब इस दोहेमें कह रहे हैं।

जोइय णेहु परिच्चयहि णेहु ण भल्लउ होइ।
णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११७॥

हिन्दीमें बोलते हैं भलो, प्राकृतमें बोलते हैं भल्लउ। इस अपभ्रंश प्राकृतसे हिन्दीकी समानता मिल गई और संस्कृतमें बोलते हैं भद्र। तो संस्कृतमें भल्लउकी समानता नहीं मिली, और प्राकृतमें हिन्दीमें समानता मिल गई। हे योगी! स्नेह त्यागो। स्नेह भद्र नहीं होता है। स्नेहमें लगे हुए समस्त संसारी जीव अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक जो दुःख सहते हैं उनको तू देख। कहते हैं ना कि बच्चा बड़ा राजा है, सुखी है, स्वतंत्र है, बादशाहकी तरह है और उसी बच्चेमें अब क्या हो गया? जवान होने पर अनेक लोगोंके वशमें रहता है, काम काज करते हुएमें चिंताएँ लदी रहती हैं, अपनेमें बोझ लादे रहता है। कितनी झंझटें उस पर आ गयीं? क्या हो गया? अरे ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है दुःख क्यों बढ़ने लगे, यों कि बचपन में स्नेहका पता न था। मां के सिवाय और किसीको न जानता था। मां के पास ही रहता था और उस मां से ही स्नेह था। अब बड़ा होने पर उसके स्नेहका प्रसार हुआ। स्नेहका प्रसार होनेसे वेदनाएँ बढ़ीं। उस स्नेहके ही कारण नाना झंझटें खड़ी हो गई।

स्नेह भद्र नहीं होता है। स्नेहमें आसक्त होकर समस्त संसारी जीव दुःख सह रहे हैं। सो इसे देखो। ये सब संसारी जीव निःस्नेह अर्थात् स्नेहरहित शुद्धआत्माकी भावनासे रहित अपने आपको नहीं परख रहे हैं। रागी नहीं बनना है तो रागरहित आत्मस्वभावको देखो। नारकी, तिर्यञ्च आदिक भवरूप नहीं बनना है तो भवरहित शुद्ध ज्ञानस्वभावको देखो। यदि शरीर ही नहीं चाहना है, शरीरसे मुक्त होना है तो शरीररहित आत्म-स्वभावको देखो। चीज तो वह एक ही है, मगर प्रयोजनवश विशेषण लगाते जाइए। द्वेषमें नहीं रहना है, द्वन्द्वमें नहीं रहना है तो द्वन्द्वरहित आत्माके

स्वभावको देखो, दुःख नहीं सहना है तो दुःखरहित आत्माके स्वभावको देखो। स्नेह न करना चाहिए। स्नेह दुःखदायी है। अपने स्नेहरहित आत्माके स्वभावको देखो।

भैया ! इस शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित होकर जो नाना शारीरिक और मानसिक दुःख सहे जायेंगे, उनको तू देख। अर्थात् भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको छोड़कर मोक्षमार्गके प्रतिपक्षी, प्रभु आत्म-स्वभावके विरोधी जो मिथ्यात्व रागादिक भाव हैं, उनसे स्नेह न करना चाहिए। यह जीव स्नेह करता है अपने परिणामोंसे। बाह्यपदार्थोंसे कोई जीव स्नेह नहीं करता है, कर ही नहीं सकता है क्योंकि स्नेह-परिणमन आत्मप्रदेशोंमें होता है और आत्मप्रदेशमें स्नेह-परिणमन होकर नष्ट हो जाता है। नया स्नेह-परिणमन बन जाता है। पर उस स्नेह-परिणमनमें जो विषय आया, क्योंकि परका विषय पाये बिना स्नेहके प्राण नहीं बनते। तो जो विषय है उसका उपचार करके यह कहते हैं कि हमने अमुक पर स्नेह किया, इसने अमुक पर किया। स्नेह जिसने भी किया, उसने अपने आपके परिणमनसे स्नेह किया।

मिथ्यात्व रागादिक जो भावी परिणमन हैं उनमें स्नेह न करना चाहिए। इसी बातको एक जगह कहा है कि यह जीव तब तक सुखी रह पाता है जब तक कहीं स्नेह न करे। जहां तक स्नेहसे बँधा हुआ हृदय हो गया बस अब पद-पदमें ही इसको दुःख भोगने पड़ते हैं— ऐसा जानकर हे प्रभाकर भट्ट ! तू स्नेहको छोड़। ऐसा इस प्रकरणमें लोभके परित्यागके लिए वर्णन चल रहा है।

जल सिंचणु पय-णिद्दलणु पुणु पुणु पीलणु दुक्खु।
णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु सहंतउ पिक्खु ॥ ११८ ॥

तिलोंके समूहमें चिकनाईका सम्बन्ध है। इसलिये यह तिल कितने दुःखोंको सहता है उसे देखो। पहिले तो जलसे भिगोया जाता है तो पानीमें तिल फूल जाते हैं, बादमें पैरोंसे खूंदा जाता है छिलका उतारनेके लिए। फिर बादमें बार बार घानीमें पेला जाता है। उसमें कितने ही पेलनेके चक्कर लगाये जाते हैं। तो तिल कितने दुःखोंको सहता है उसे देखो। भाव इसमें यह है कि स्नेहवश प्राणी संसारमें सर्वत्र दुःख भोगता है। जो वीतराग चिदानन्द एकस्वभाव सहजपरमात्मतत्त्वकी सेवा नहीं करता है अर्थात् अपने आपके शुद्ध स्वभावको नहीं जानता है वह निश्चलचित्त होकर वीतराग निर्विकल्प स्वभावकी भावना कैसे कर सकता है ? सो जो जीव मिथ्यामार्गमें रुचि करता हुआ, पंचेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त होता हुआ

नरनारकादिक गतियोंमें भटककर नाना प्रकारके दुःखोंको सहता है। यह सब मोह और रागका फल है। कहा भी है—

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए।
वोद्दह-द्दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ।। ११६ ।।

वह ही पुरुष धन्य है, जो जवान अवस्थारूपी तालाबमें पतित हुऐ भी, पड़े हुए भी लीलामात्रमें ही तिर जाता है। वह ही प्रशंसाके योग्य है अर्थात् युवावस्थामें भी परिग्रह परिवार सम्बन्धी स्नेहको त्यागकर जो अपने वीतराग निर्विकल्प समाधिके लिए तत्पर रहता है, वह पुरुष धन्य है।

एक कथानक है कि एक साधु आया श्रावकके यहां आहार करने। आहार करनेके बाद वह आंगनमें बैठ गया। तो सेठकी बहू पूछती है कि महाराज ! आप इतने सबेरे क्यों आ गए ? तो महाराज उत्तर देते हैं कि बेटी ! समयकी खबर न थी। फिर साधुने पूछा कि तुम्हारी उमर कितनी है ? तो बहू बोली कि महाराज मेरी उमर ५ वर्षकी है। और तुम्हारे पतिकी उमर कितनी है ? तो बोली कि पतिकी उमर ५ महीनेकी है और तुम्हारे ससुरजीकी उमर कितनी है ? तो वह बोली कि महाराज ! अभी ससुरजी तो पैदा ही नही हुए हैं। अच्छा, तुम ताजा खाती हो कि बासी ? बहू बोली कि महाराज ! बासी ही बासी खा रही हूं। इतनी बातें होनेके बाद मुनिराज तो चले गए अपने स्थान पर। अब सेठजी बहूसे लड़ने लगे। तूने ऐसी बेवकूफी की बातें कहीं और महाराजका भी दिमाग खराब कर दिया। कैसे अटपट प्रश्नोत्तर रहे, तूने तो हमारे कुलको बिगाड़ दिया। तो बहू कहती है कि पिताजी ! मुनिराजके ही पास चलो और समझलो कि बात क्या है ?

वे दोनों साधुके पास गए, भेद खुला। बहूने यह पूछा था कि हे साधु महाराज ! तुम इतने सबेरे क्यों आ गए ? अर्थात् इतनी छोटी उमरमें क्यों साधुपदमें आ गए ? तो साधु महाराज उत्तर देते हैं कि समयकी खबर न थी। न जाने कब मर जायें, थोड़ी उमर है, इसलिए हम जल्दी आ गए। साधु महाराजने यों पूछा था कि तुम्हारी उमर कितनी है ? तो बहूने कहा कि ५ वर्षकी। उसका अर्थ यह है कि ५ वर्षसे धर्ममें श्रद्धा हुई। जबसे धर्ममें श्रद्धा हो तबसे ही जिन्दगी माननी चाहिए। और पतिकी उमर ५ महीनेकी। मायने पतिको ५ महीनेसे धर्ममें श्रद्धा हुई है। तो ससुर बोला कि हम जो सफेद बालके खड़े हैं, हमको तो बताती है कि पैदा ही नहीं हुए। बहूने कहा कि महाराज ! देखो यह अब भी लड़ रहे हैं। इन्हें पैदा हुआ कौन कह सकता है ? अभी तक इनके धर्ममें श्रद्धा नहीं है। ठीक है। और बासी खाती हो कि ताजा, इस प्रश्न पर बहूने कहा कि सब बासी ही बासी खाती हूं, ताजा कहां

मिलता है ? सेठजीने पूर्वभवमें पुण्य किया था, उसका फल भोग रहे हैं। यह सेठजी इस समय कोई पुण्यका काम नहीं कर रहे हैं। तब ताजा तो नहीं खा रहे हैं। पुराना बासी जो रखा हुआ है वही खा रहे हैं।

सो जो पुरुष युवावस्थामें भी सर्वप्रकारकी आकांक्षा स्नेहोंको तजकर अपने आत्महितके मार्गमें लगते हैं वे पुरुष धन्य हैं। इस दोहेमें यह तात्पर्य बताया है कि जो जीव निज शुद्ध आत्माकी भावनाके जहाज द्वारा यौवन-रूपी महायुद्धको तैरते हैं वे ही पुरुष धन्य हैं, वे ही सत्पुरुष हैं। कैसा है यह जहाज जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अमूल्य रत्नोंसे पूर्ण है, जिसमें अनेक रत्नोंसे भरे हुए बहुतसे पात्र हैं। ऐसा है यह निज शुद्ध आत्माकी भावनारूप जहाज। कार्य तो इस मुमुक्षुका एक ही हो रहा है जो हो रहा है, पर उसको जब बताने चलते हैं तो तीन रूपोंसे समझ में आता है कि इस महात्माका विश्वास कहां है ? इसमें ज्ञान क्या हो रहा है ? और यह किस जगह रम रहा है-- ऐसे इन तीन प्रकारोंसे उस एक परिणतिका ज्ञान हो पाता है जिस परिणतिसे कर्मक्षय और मोक्षमार्ग हो रहा है।

यह शुद्ध आत्माकी भावनारूप जहाज कैसा है ? इसमें विषयोंकी इच्छारूपी, स्नेहरूपी जलका प्रवेश नहीं है। नाव हो और उसमें जल प्रवेश होता रहे तो वह निर्वाध पानीमें नहीं चल सकता है। १०-५० कदम चलने पर ही पानी भर जायगा। पानीको उलीचें तो भी नया भरता जाता है, जिस से उस जहाजसे ह्रदका पार नहीं पा सकते हैं। किन्तु जिसमें छिद्र न हों ऐसी नावसे ही ह्रदका पार पा सकते हैं। इस शुद्ध आत्मतत्त्वके भावनारूप जहाजमें विषयोंकी आकांक्षारूप रागमोहादिकरूप कोई छिद्र नहीं है, जल का रंच प्रवाह नहीं है, ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनारूप जहाजसे जो ज्वालारूपी महान् तालावको तैर जाता है, वह ही पुरुष धन्य है, वह ही सत्पुरुष है, और बहुत क्या कहें ?

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिं छंडिवि बहुविहु रज्जु।
भिक्ख-भरोडा जीव तुहुँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥ १२० ॥

जिनेश्वर देवने अनेक प्रकारका राज्य वैभव त्याग कर मोक्षकी साधनाकी, मोक्षको साधा, पर हे जीव ! भिक्षाका भोजन करने वाले तू अपने आत्माके कल्याणको भी नहीं करता। मोक्ष क्या वस्तु है ? स्वाभाविक ज्ञानादिक गुणोंके शुद्ध चरमविकासकी अवस्थाका नाम मोक्ष है। मोह कहने से विधिरूप और निषेधरूप दृष्टि पहुंचती है जिस पदमें उस पदको मोक्ष कहते हैं। उस मोक्षपदमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त-

शक्ति आदिक गुण हैं, शुद्ध परिणमन है और मोह रागद्वेष द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म इनका सम्बन्ध नहीं है—ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञानादिक गुणका साधनभूत जो उत्कृष्ट मोक्षकी अवस्था है वह अवस्था है इस आत्माकी, जिस आत्माने सर्वप्रकारसे कर्ममल, कलंकों को दूर कर दिया है।

जैसे स्वर्णमें किट्ट, कालिमा दो प्रकारके दोष हैं। किट्ट तो बाहरी दोष है और कालिमा अंतरंग दोष है। स्वर्णमें जो कीट लगा है, अन्य धातुका मेल है या स्वर्णका कुछ मल ही मिश्रित है वह तो किट्ट कहलाता है और स्वर्णमें जो रूप परिवर्तन है, विशुद्धरूप नहीं आ पाता है वह कालिमा है। जब अग्निमें अनेक बार वह तप जाता है तो उसमें न किट्ट रहता है, न कालिमा रहती है। इसी प्रकार इस जीवमें द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी दो दोष लगे हैं। द्रव्यकर्म तो बहिरंग दोष है और भावकर्म अंतरङ्ग दोष है। सो ध्यानरूपी अग्निमें अनेक बार तपे हुए इस जीवमें न द्रव्यकर्मका दोष रहता है और न भावकर्मका दोष रहता है। उस समय अत्यन्त शुद्ध अपने पूर्ण विकासमय इसकी अवस्था होती है।

ऐसे मोक्षपदकी जिनेश्वर भगवान् ने साधना की। बड़े-बड़े राज्योंको छोड़कर जिसमें राजा मंत्री सेना आदिक अनेक अंग हैं, जो बड़ी शोभा और प्रतापको प्रसिद्ध करने वाले हैं, ऐसे महान् वैभवको छोड़कर उन्होंने मोक्षकी साधना की। भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रयकी, और हे भिक्षासे भोजन करने वाले मुनि! तुम अपना कार्य नहीं सिद्ध करते हो। बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहको त्यागकर वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर विशिष्ट तपश्चरण करना चाहिए। इन मुनिराजको इस भिक्षाभोजनवृत्ति से लाभ उठाना चाहिए। इसके बाद यहां यह सम्बोधन करते हैं कि हे जीव! तू भी जिन भट्टारक आदिककी तरह परमपुरुषार्थ कर।

भैया! भट्टारक शब्दका अर्थ है परम पुरुषार्थी पुरुष। आजकल भट्टारक शब्दकी प्रसिद्धि किन्हीं व्यक्ति विशेषोंमें हो गई है, जो अपनेको मुनि कहलवाते हैं। किन्तु वस्त्र वैभव सब कुछ रखते हैं। और कोई-कोई तो गृहस्थ जैसे लाखों और करोड़ोंकी सम्पदाकी व्यवस्था करते हैं। उन भट्टारकोंका यह जिक्र नहीं हैं। यहां जिक्र है जिन भट्टारकोंका जिनने कर्मोंको जीता है—ऐसे परमपुरुषार्थी महापुरुषकी तरह आठ प्रकारके कर्मोंका निर्मूलन करके मोक्षको जावो, ऐसा सम्बोधन करते हैं।

पावहि दुक्खु महंतु तुहुं जिय संसारि भमंतु।
अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥१२१॥

हिन्दी पद्योंमें जिया बोलते हैं ना जीवका, जिया तू तो बसत सदैव

अकेला। यह शब्द प्राकृत भाषा का है। यह प्राकृत भाषाका शब्द हिन्दी भाषा के शब्दसे मिलता है। तो कहते हैं कि हे जिया! तू संसारवनमें भटकता हुआ महान् दुःखोंको पायेगा, इसलिए ८ प्रकारके कर्मोंको दल करके सबसे महान् मोक्षको जावो। यह जीव जिस संसारमें भ्रमण करता है वह संसार क्या है? तो भावरूपसे रागद्वेष मोहरूप जो परिणाम हैं वह ससार है। सिर्फ अन्य चेतन अचेतन इनका नाम संसार नहीं, किन्तु आत्मामें जो रागद्वेष मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं उन परिणामोंका नाम संसार है। और बाह्यक्षेत्रमें तो इस स्थानका नाम संसार है। चलते फिरते, चहल पहल वाले इन सब पदार्थोंके समूहका नाम संसार है। और शब्दोंकी दृष्टिसे परिभ्रमण करनेका नाम संसार है। इन जीवोंने कबसे भ्रमण किया? इस बातको समझने के लिए संक्षिप्त शब्द तो ये कि अनन्तकालसे इसने संसार में परिभ्रमण किया, अथवा अनादि कालसे जिसका कोई आदि ही नहीं है कि इस दिनसे परिभ्रमण शुरू हुआ। जन्ममरण अनादि कालसे चले आ रहे हैं, फिर भी इसे कुछ और समझाने के लिए पंचपरिवर्तनका स्वरूप कहा है कि इस जीवने ऐसे-ऐसे अनन्त परिवर्तन किये हैं।

उन परिवर्तनोंमें से जो कि अनन्त कर डालते हैं, यदि एक परिवर्तन का ही स्वरूप समझा जाये तो उसके सुनते ही ऐसा प्रतीत होगा कि अहो, यह तो बहुत बड़ा काल है। इसकी तो शुरुवात ही समझमें नहीं आती है और फिर ऐसे अनन्त परिवर्तन हुए हैं। इतने समयसे यह जीव इस संसार में परिभ्रमण करता चला आया है, वे परिवर्तन हैं—पांच द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्र-परिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। इन परिवर्तनों में से भावपरिवर्तनका स्वरूप तो बहुत क्लिष्ट है, कठिनतासे समझमें आने वाला है। और उसके बाद कुछ कम क्लिष्ट द्रव्यपरिवर्तन है। पर क्षेत्र-परिवर्तन, कालपरिवर्तन और भवपरिवर्तन ये तीन परिवर्तन जल्दी समझ में आते हैं। जैसे इन्हींमें से क्षेत्र परिवर्तनसे शुरू करें। क्षेत्रपरिवर्तन दो प्रकारका है—स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन। उनमें से परक्षेत्र-परिवर्तन को लो। यह जीव लोकके ठीक मध्यमें आत्माके मध्यके प्रदेशोंको बसाता हुआ बड़ी सूक्ष्म अवगाहना लेकर जन्म ले। लोकका मध्य कहां है? तो कोई हँसी करने वाला हो तो जहां बैठा है वहीं मुक्का मारकर कह दे कि लोकका मध्य यह है। कोई कहे कि यह नहीं है। तो वह कहे कि अच्छा नाप कर बतलावो कि कहां गलती है। पर आगममें जहां लोकका मध्य बताया है वह है मेरू पर्वतके नीचे उस जोड़की चौड़ाईके ठीक बीचमें अष्ट प्रदेशरूप। वही मध्यस्थान है, जम्बूद्वीपका मध्यलोक और तीनों लोकोंका

मध्यस्थान है।

मध्यस्थानमें आठ प्रदेश क्यों है ? यों हैं कि यह जो समस्त आकाश है अथवा लोकाकाश है उसमें असंख्यात प्रदेश हैं और वे असंख्यात प्रदेश पूरी संख्या वाले हैं। यद्यपि हैं वे अनगिनन्ते प्रदेश, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती हैं, पर वे इतने प्रदेश हैं कि जिनमें दो का भाग जा सकता है और पूरा वह भाजित हो जाता है। जैसे २-४-६-८ जितने ही पूरी संख्या वाले होते हैं उतने ही प्रदेश हैं, चारों ओर पूरी-पूरी संख्या है। तो जब पूरी संख्या वाली चीजें होती हैं तो उनका मध्य एक नहीं हो पाता है। जैसे ये चार अंगुलियां हैं तो अब यह बतलावो कि बीचकी अंगुली इनमें कौन है ? तो बीचकी दो अंगुलियां इसके उत्तरमें बतानी पड़ेंगी। जैसे ८ खम्भे खड़े किए गए हैं, बतलावो इनमें से बीचका खम्भा कौनसा है ? तो बीचका खम्भा एक तो है ही नहीं। दो बताये जायेंगे। पूरब और पश्चिम में जब पूरी सख्या वाले प्रदेश हैं तो उसमें बीचका प्रदेश बताने के लिए द बताये जायेंगे और जब उत्तर और दक्षिणमें पूरी संख्या वाले प्रदेश हैं तो उनमें भी बीचका बताने के लिए दो बताये जायेंगे। इसी प्रकार ऊपरसे नीचे भी पूरी संख्या वाले प्रदेश हैं तो उसी तरहसे दो प्रदेश बताये जायेंगे। सर्व ओर पूरी संख्या वाले प्रदेश हैं, इसी कारणसे मध्यमें ८ प्रदेश आते हैं।

आत्मा भी पूरी संख्याके प्रदेश वाला है। है यद्यपि वह असंख्यात प्रदेशी, पर ऊने प्रदेश नहीं हैं, पूरे प्रदेश हैं। इसलिए छोटी अवगाहना का देह लेकर कोई जीव ऐसी जगह पैदा हो जाये कि आत्माके बीचके प्रदेश लोकके बीचके प्रदेशमें रह जायें, वहां पूरा शरीर नहीं रह सकता। पूरा शरीर छोटा होकर भी असंख्यातप्रदेशी है। अतः ठीक मध्यमें उत्पन्न होता है तो आत्माके बीचके प्रदेश लोकके बीचके प्रदेशके समान हो जायेंगे। वहां पैदा हुआ, पश्चात् जितने प्रदेशकी अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ, उतनी बार वहीं पैदा हुआ, फिर उसके पासके एक प्रदेशको और फैलाकर पैदा हुआ, फिर दूसरे प्रदेशको भी अवगाहित करके पैदा हुआ। इस तरह किसी भी दिशामें एक-एक प्रदेशको रोककर पैदा हो जाये यद्यपि ऐसा नियम नहीं है कि वहां से मरे तो उसी जगह, उसही प्रदेशमें पैदा हो। न जाने आत्मा कहां पैदा हो जाये ? वह गिनतीमें न ले सकेंगे। जब कभी असंख्यात बार भी कहीं भी पैदा होनेके बादमें उसी प्रदेशमें पैदा हो तो वह गिनती में लिया जायेगा। इस तरह लोकमें चार दिशावोंमें असंख्यात प्रदेश हैं। सो क्रम क्रम से सर्वप्रदेशों पर यह जीव पैदा होने में जितना समय लगेगा उतने समयका नाम है एक परक्षेत्रपरिवर्तन। इतना ही सोचते हुए में ऐसा

लगता है कि यह तो बहुत बड़ा काल है, किन्तु यह ५ प्रकारके परिवर्तनोंमें छोटा काल है।

इसी प्रकार स्वक्षेत्रपरिवर्तनमें अपनी अवगाहनासे मतलब है। सूक्ष्म अवगाहना लेकर पैदा हुआ और अनेक बार उसी अवगाहनाको लेकर उत्पन्न हुआ, फिर एकप्रदेशवाद शरीरको लेकर उत्पन्न हुआ। जैसे मोटे रूपमें कोई एक अंगुलका शरीर धारण कर चुका तो अब दो अंगुलका शरीर ले, फिर तीन अंगुलका शरीर ले। ऐसा कोई नियम नहीं है कि दो अंगुलका शरीर पानेके बाद दूसरा शरीर जो पायेगा वह तीन अंगुलका पायेगा। यह नियम नहीं है। विभिन्न प्रकारके देह पायेगा, वे गिनतीमें नहीं हैं। इस तरह बढ़ते-बढ़ते, एक-एक प्रदेशसे बढ़ते-बढ़ते जब एक हजार योजन लम्बे, पांच सौ योजन चौड़े और ढाई सौ योजन मोटे मत्स्यके अवगाहना प्रमाण शरीर पा लेता है, इतने में जितने काल व्यतीत हुए उसे कहते हैं स्वक्षेत्र-परिवर्तन। इस तरह और परिवर्तनोंका स्वरूप कल कहेंगे।

छहढालामें आया है— यों परिवर्तन पूरे करें। पहिली ढालामें आया है। याने यह जीव अनादिकालसे पांचों परिवर्तन अनन्तों बार पूरे करता फिरा है। इस परिवर्तनसे यह समझना है कि यह जीव कितना घूमा है इस लोकमें? कितने बार जन्म मरण किया? तो कल क्षेत्रपरिवर्तन कहा था, आज कालपरिवर्तन कहते हैं। इस भरतक्षेत्रमें और ऐरावतक्षेत्रमें ६ काल का परिवर्तन चलता है—पहिला काल, दूसरा काल, तीसरा काल, चौथा-काल, पांचवा काल और छठा काल। फिर जब ये ६ काल पूरे हो जाते हैं तो फिर यों चलता है छठवां काल, पांचवां काल, चौथा काल, तीसरा काल, दूसरा काल और पहिला काल और फिर ये जब पूरे हो गए तो पहिलाकाल, दूसराकाल, तीसराकाल आदिक रूपसे यह चक्र चलता रहता है। आज कौन सा काल है? पंचमकाल अर्थात् ५ वां काल। इस ५ वें कालके बादमें छठवां काल आयेगा, फिर उसके बाद प्रलय होगा, फिर चढ़ता हुआ ६ वां, ५ वां, ४ था, ३ रा, २ रा व पहिला काल आवेगा।

पहिले कालमें उत्कृष्ट भोगभूमिकी रचना है, जहां बहुत बड़े विशाल-कायके मनुष्य तिर्यञ्च होते हैं। उनकी तीन पल्यकी आयु होती है। पल्य बहुत बड़ा होता है। एक पल्यमें लाखों, खरबों अनगिन वर्ष होते हैं। ऐसे तीन पल्यकी आयु है। बच्चा बच्ची पैदा होते हैं, वे बढ़ते हैं और वे ही पुरुष, स्त्री बन जाते हैं और उनके जब गर्भ रह जाता है, तो गर्भ रहता है अंतिम अवस्थामें। सो उनके बच्चा होता है, सो उसी कालमें माता पिता गुजर जाते हैं। यह बात अच्छी है या नहीं? एक तरहसे यह बात भली

है और एक तरहसे यह बात भली नहीं है। भली तो यों है कि जब संतान हुई तब माता पिता गुजर गए, सो माता पिताके वियोगका मौका ही इस संतान को न आयेगा ? जब लड़का १०, २०, ५० वर्ष का हो जाता है, शादी भी हो गई और मर जाये मां बापके सामने तो कितना क्लेश होता है ? मां बापने बच्चेका मुँह नहीं देखा। बच्चे ने मां बापका मुँह नहीं देखा तो फिर वहां कैसे दुःख होगा ? तो लौकिक सुखकी लिहाज से तो अच्छा है, पर जहां इष्टवियोग न हो, इष्टवियोगकी पीड़ा न मालूम हों, उस जगह मुक्ति नहीं होती है।

भोगभूमिके जीव तपस्या नहीं कर सकते, मोक्ष नहीं जा सकते। यहां कर्मभूमियां हम आपको अनेक तो शरीरकी वेदनाएँ लगी हैं, फिर इष्ट वियोग लगा है, अनिष्ट संयोग लगा है, धन कमानेकी चिंता लगी है, कभी किसीसे धोखा मिला, कभी किसी से धोखा मिला, तो इन दुःखोंसे परेशान होकर मनुष्य विरक्त हो सकता है और जिनको सारे जीवन सुख ही सुख है उन्हें विरक्त होने का अवसर नहीं होता। तो यह है कौनसा काल ? अर्थात् अभी हम किस कालका जिक्र कर रहे थे ? पहिले कालका। पहिला काल चार कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है।

इसके बाद दूसरे कालका नम्बर आता है। इस दूसरे कालमें पहिले कालकी अपेक्षा कुछ कम ऊँचे स्त्री पुरुष तथा तिर्यञ्च होते हैं। और वहां भी बच्चा बच्ची पैदा होते ही मां बाप गुजर जाते हैं, उनके गर्भ ही रहता है अंतिम समयमें। इस दूसरे कालका समय है तीन कोड़ाकोड़ी सागर। अब लगता है तीसरा काल। उसमें भी भोगभूमिकी रचना होती है। पर उनका पहिले से कम तो शरीर है और दो कोड़ाकोड़ीका उस भोगभूमिका काल है। और तीसरे कालके अंतमें फिर कुछ क्लेश होने लगते हैं। कम सुख रह जाता है, कुछ भयकी चीज आ जाती है। पहिले सिंह वगैरह बड़ी अच्छी तरह रहते थे, अब गुर्राने लगते हैं। सूर्य चन्द्रमा दिखने लगते हैं और मां बापके बने रहते हुए भी संतान बने रहते हैं। याने इष्ट वियोगका भी मौका आने लगता है। इस तरह कुछ भोगके साधन कम हो जाते हैं। सुख शौकके साधन मानो उस समय नहीं उत्पन्न होते हैं। जो प्रजाको धैर्य देते हैं—घबड़ावो मत, अब इस तरह गुजारा करो।

फिर इसके बाद आता है चौथा काल। उसे पहिले चौथा काल गुजर गया है, उसमें चौबीस तीर्थंकर हुए हैं और हर चौथे कालसे भव्य पुरुष मोक्ष जाते हैं। चौथा काल बीतने के बाद पांचवां काल शुरू हो जाता है। अब यह है पंचमकाल। यहां मोक्षके लायक भाव नहीं हैं, संहनन नहीं है, साहस

नहीं है, ध्यान नहीं है किन्तु मुनि अब भी होते रहेंगे। पंचम कालके अंतमें फिर धर्म बहुत कम हो जायेगा। छठे कालमें भी ऐसी प्रवृत्ति होने लगेगी कि आग भी कम हो जायेगी, न मिलेगी। मनुष्य मांसभक्षी ज्यादा हो जायेंगे। मांसभक्षी ज्यादा हो जायेंगे, इसका नमूना तो अभीसे दिख रहा है। रेल मोटरसे सफर करके देखो या किसी देशमें चले जावो या जैन समाजके अलावा अन्य किसी समाजमें बैठो तो पता पड़ेगा कि मांसभक्षण कितना बढ़ गया है ? फिर छठाकाल बीतने पर प्रलय होगी। यहां वहां लोग छिप जायेंगे। कुछ देव लोग बहुतसे जीवोंको कहीं छिपा लेंगे, रक्षा कर देंगे, फिर ४९ दिन अच्छी वर्षा होगी। फिर जीव निकलने लगेंगे व बढ़ने लगेंगे। इस तरहका कालका परिवर्तन चला आया है।

यहां बतला रहे हैं कालपरिवर्तनका स्वरूप। कल्पना करो कि किसी समयसे कोई एक जीव पहिले कालके शुरूमें उत्पन्न हुआ। यह जो वर्तमानमें चल रहा है कालचक्र इसे कहते हैं अवसर्पिणी अर्थात् गिरता हुआ काल। और इस छठे कालके बादमें जो कालचक्र चलेगा उसे कहेंगे उत्सर्पिणी। जैसे दो नागिनी सर्पिणी आपसमें लड़ती हों, फनमें फन मारती हों, और वे लड़ते-लड़ते खड़ी हो जायें तो बहुत ऊंचे खड़ी हो जाती हैं। जरासी पूछ उनकी नीचे रह जाती है। तो उन नागिनियोंका फनसे फन मिल जाये और पूँछसे पूँछ मिल जाये, इस तरहका स्वरूप एक तरफसे उन का देखते चलो तो पूँछ अत्यन्त पतली होती है, उसके बाद क्रमसे कुछ-कुछ मोटा होता जाता है और फनके पास तो बहुत ही मोटा होता है। यह तो है एक सर्पिणीका दृष्टांत। अब दूसरी सर्पिणीको वैसे ही क्रमसे देखते चलो तो ऊपर फनके पास तो खूब मोटा, बीचका हिस्सा उससे कुछ पतला और सबसे नीचे पूँछका हिस्सा अत्यन्त पतला होता है। तो यह हुआ दूसरी सर्पिणी का दृष्टांत। इस समय अवसर्पिणी चल रही है।

परिवर्तन अवसर्पिणीसे शुरू करलो। कोई जीव अवसर्पिणीकी शुरुवात के पहिले समयमें उत्पन्न हो, फिर वही जीव जब अन्य अवसर्पिणी आये और दूसरे समयमें पैदा हो जाये तो उसकी गिनती मान ली जायगी। अब ऐसा कोई नियम तो नहीं है कि यह जीव फिर अवसर्पिणी आए तो दूसरे समयमें पैदा हो जाय और कहो ऐसे ही अनगिनते अवसर्पिणी काल निकल जायें कि दूसरे समयमें न पैदा हो सके। जब भी अवसर्पिणी से दूसरे समयमें पैदा हुआ तो गिनतीमें आया। फिर कभी तीसरे समयमें पैदा हुआ और फिर कभी चौथे समयमें पैदा हुआ। इस तरह एक-एक समय बढ़-बढ़ कर पूरे अवसर्पिणी कालमें क्रमसे पैदा हो ले और पूरे उत्सर्पिणी कालमें

पैदा हो ले, उतनेमें जितना उसका समय गुजर जायेगा, उतने समयका नाम है कालपरिवर्तन। इसको उत्सर्पिणी से प्रारम्भ करके भी घटा लो।

एक मिनटमें ६० तो सेकेण्ड होते हैं और एक सेकेण्डमें अनगिनते आवलियां होती हैं और एक आवलीमें अनगिनते समय होते हैं। ऐसे एक एक समयमें पैदा होकर कालको पूरा करनेकी बात इसमें बताई है। इस तरह केवल यह देखते हैं कि इस जीवने इतने-इतने अनन्त कालपरिवर्तन कर डाले। इन अनन्तोंका भी उतना ही अर्थ है कि जिसका कभी अंत नहीं। तब जीवके सत्त्वका कुछ आदि नहीं है कि किस दिनसे जीव बना तो अनादि कालसे सर्वपरिवर्तन चले आ रहे हैं। यह हुआ कालपरिवर्तन। अब लो भवपरिवर्तन। इस परिवर्तनमें सिर्फ जानना यह है कि इतने काल इस जीवको जन्म मरण करके व्यतीत होते हैं।

भवपरिवर्तनमें चार गतियोंके अनुसार बताया जायेगा। नरकभव परिवर्तन, तिर्यञ्चभव परिवर्तन, मनुष्यभव परिवर्तन व देवभव परिवर्तन। इनमें से कोई एक ले लो। नरकभव परिवर्तन लो, तो नारकियोंकी आयु कम से कम १० हजार वर्षकी होती है, इससे कम उमरका कोई नारकी नहीं है। ज्यादा से ज्यादा ३३ सागरकी आयु है। तो कोई १० हजार वर्षकी उमर लेकर नारकी बना, फिर उस १० हजार वर्षमें जितने समय होते हैं उतने ही बार १० हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें पैदा हो ले। भैया! एक तो यह नियम नहीं कि नरकमें दुबारा जब पैदा हो तो इतनी उमर लेकर पैदा हो। नरकसे मरकर जीव तुरन्त नरकमें नहीं उत्पन्न हुआ करता। वहां १० हजार वर्षके जितने समय हैं उन समयोंकी कोई गिनती ही न की जा सकती। अन्य स्थितिसे उस नरकभव परिवर्तनका कोटा पूरा करनेका सुमार न होगा। जब कभी १० हजार वर्षकी आयु लेकर नारकी बने तो जितने १० हजार वर्षके समय हैं, एक मिनटमें अनगिनते समय होते हैं तो १० हजार वर्षके सोचो तो सही कि कितने समय होंगे? उतने बार यह नारकी बने। फिर बादमें १० हजार वर्ष बाद एक समयसे थोड़ा आगेकी आयु बनी, फिर कभी-कभी समय अधिक १० हजार वर्षकी आयु लेकर पैदा हुआ। इस तरह एक-एक समयमें आयु बढ़-बढ़ कर ३३ सागर पर्यन्तकी आयु प्राप्त करके नरकोंमें पहुंच ले, इतनेमें जितना काल उसका व्यतीत होगा उसको कहते हैं नरकभव परिवर्तन। यह एक गतिकी बात है।

इसी तरह तिर्यञ्चभव परिवर्तनमें देखलो। जघन्यसे जघन्य तिर्यञ्च की आयु अन्तमुहूर्त होती है, उसमें जितना समय है उतने पर अन्तमुहूर्त की आयु लेकर यह तिर्यञ्च बन जाय और फिर एक-एक समय बढ़ाकर यह

तीन पल्यकी आयु पर्यन्त क्रमसे उत्पन्न हो ले। इसमें जितना समय लगेगा उसे कहते हैं एक तिर्यञ्चभव परिवर्तन। इसी तरह मनुष्यभव परिवर्तन की बात है। मनुष्यकी आयु कमसे कम अन्तर्मुहूर्त की होती है। उस अन्तर्मुहूर्त में जितना समय है उतने बार मनुष्य बन लें। अब उतने बार एक चान्समें तो बन नहीं सकता, क्योंकि त्रसका समय करीब दो हजार सागर का है, उसमें २४ भव मनुष्यके मिल पाते हैं। कितना ही समय गुजर जाय, कभी उतने बार यह मनुष्य बनले, फिर एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर बने, फिर दो समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर बने, इस तरह एक-एक समय बढ़ा-बढ़ा कर तीन पल्य प्रमाण आयु लेकर यह मनुष्य बन जाये, इतने में जितना समय व्यतीत होगा उतने समय को कहेंगे मनुष्यभव परिवर्तन।

देवभव परिवर्तन लो। कोई जीव १० हजार वर्षकी आयु लेकर देवमें उत्पन्न हुआ। देवोंके भी आयु १० हजार वर्षसे कम नहीं होती। उस १० हजार वर्षमें जितने समय हैं उतने बार १० हजार वर्षकी आयु लेकर देव बन ले। प्रथम तो देव मरकर देव होते नहीं, दूसरा भव पायेंगे। तो वे भव गिनतीमें नहीं आते। जब इस विधिसे स्थिति लेकर पैदा हों तो गिनतीमें आयेंगे। फिर एक समय अधिक दस हजार वर्षकी स्थिति लेकर पैदा हों। यों एक-एक समय बढ़ाकर ३१ सागर पर्यन्त स्थिति लेकर देवमें उत्पन्न हो लें। इतनेमें जितना काल व्यतीत होगा उतने कालको कहते हैं एक देवभव परिवर्तन। इस देवभव परिवर्तनमें ३१ सागरसे अधिक आयु नहीं मिलती है क्योंकि इससे अधिक आयु सम्यग्दृष्टि जीवों के ही रहती है। सम्यग्दृष्टि जीवोंको फिर परिवर्तन काल तक नहीं रहना पड़ता है। यों समस्त भव परिवर्तनमें जितना समय गुजरा उतने समयको कहते हैं एकभव परिवर्तन। ऐसे-ऐसे इस जीवने अनन्त भवपरिवर्तन किए।

यद्यपि कोई जीव यहां त्रस राशिमें ऐसे भी हैं कि जिन्होंने नाना प्रकारके ये भव नहीं पाये, निगोद-निगोदमें ही बसे आए और निगोदसे सीधे निकलकर किसी त्रसमें उत्पन्न हुए और कोई तो कुछ और भवों में उत्पन्न होकर मनुष्य हुए हों। तो उनके यद्यपि ये चारों भवपरिवर्तन न हों, फिर भी इन परिवर्तनों के बतानेका प्रयोजन इतना है कि यह ज्ञानमें आ जाये कि इतना समय इस जीवने जन्ममरण करके व्यतीत किया है, सो उन सब जीवोंके लिए भी यह बात समझनी कि कोई भी जीव इस प्रकारसे भव-परिवर्तन अनन्त करले, उसमें जितना समय व्यतीत होता है उतना ही समय इन सब संसारी जीवोंके व्यतीत हुआ, चाहे वह और भवोंमें न उत्पन्न

हुआ हो, इसी तरह भवपरिवर्तन भी इस जीवके अनन्त व्यतीत हो गए। इसी तरह द्रव्यपरिवर्तन, जिसका समय उनसे अधिक है और भवपरिवर्तन जिसका समय सबसे अधिक है। ये सब अनन्त बार परिवर्तन किये हैं।

द्रव्य व भाव--इन दो परिवर्तनोंका स्वरूप जरा सुननेमें किन्हीं किन्हीं को आलस्य आ जायेगा क्योंकि ये कठिन है, इसलिए अभी नहीं कहेंगे। फिर कोई समय आयेगा तो बतायेंगे। ऐसे ५ प्रकारके भवरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए इन जीवोंने महान् दुःख पाये। सो यदि अष्टकर्मोंका निर्मूलन नहीं करते हो तो तुम भी ऐसे ही महान् दुःख पावोगे। इस कारण अष्टकर्मों का निर्मूलन करके मोक्षको जावो, ऐसा यहां सम्बोधन किया गया है।

ये ८ प्रकारके कर्म कैसे दले जायेंगे? कोई आत्मामें हाथ पैर तो हैं नहीं, सिलबट्टा तो है नहीं जो सिल पर रगड़ा जाये। ये भी बड़े सूक्ष्म हैं और आत्मा अमूर्त है, ये कैसे दले जायेंगे? प्रथम तो स्वरूपदृष्टिसे देखो— किसी भी पदार्थके द्वारा कोई भी पदार्थ दला नहीं जाता। उसका परिणमन किया नहीं जाता, फिर आत्मा जैसा अमूर्त पदार्थ इन कर्मोंको कैसे दल सकेगा? उसका उपाय है कि अपना जो शुद्धस्वरूप है ज्ञानमात्र, उस ज्ञानस्वभावी स्वरूपको देखो जहां केवल ज्ञानप्रकाश है, इसका कहीं कुछ नहीं है, किसीका यह नहीं है, यह स्वयं महिमानिधान आनन्दपुञ्ज ज्ञानमात्र है-ऐसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो, उसकी दृष्टि हो, रुचि हो, उसका आश्रय हो, उसकी ओर झुकाव हो तो ये कर्म अपने आप दल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध आत्माकी उपलब्धिके बलसे आठों ही कर्मोंको दलकर स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्षको प्राप्त करो।

सिद्धि कहो, मोक्ष कहो उसका अर्थ है निज आत्माकी उपलब्धि मोक्ष में है क्या और? यही है हमारा आपका आत्मा। यह आत्मा अनादिकाल से अनन्तभवोंमें बँधा चला आया है, जो कि विवश है। विवशता तो इसकी दृष्टि विमुख होने से है। पर जब यह परभावोंसे विमुख हो गया, केवल ज्ञान प्रकाश मात्र हो गया, शुद्ध आनन्दमय अपनी शक्तिके पूर्ण विकासमें हो गया तो उसको कहते हैं सिद्ध। और इसमें है इसके निजआत्माकी उपलब्धि। सो ऐसा जो महान् मोक्ष है उसको प्राप्त करो। यह मोक्ष महान् क्यों है कि महापुरुष इस मोक्षको प्राप्त करते हैं। यह मोक्ष महान् क्यों है कि केवलज्ञानादिक महान् गुणोंका यहां प्रसार है, ऐसे उत्कृष्ट मोक्षको हे योगी! इस शुद्ध आत्माकी दृष्टिके बलसे प्राप्त करो।

अब इसके बाद यह शिक्षा दी है कि यदि तू थोड़े भी दुःखको सहने के लिए असमर्थ है तो फिर ऐसे काम क्यों करता है कि जिन कामोंके

कारण अनन्त काल तक जन्म-मरण लेकर दुःख भोगेगा।

जिय अणु-मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ।
चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥१२२॥

तू दुःखोंसे डरता है ना, थोड़ा भी तुझे दुःख पसंद नहीं है। कहीं शरीरमें रोमटूटा हो जाये तो उसके मारे तू बेचैन हो जायेगा, बुखार आ जायेगा, चलते नहीं बनेगा, व्याकुलता हो जायेगी। जरासा भी दुःख तू सहना नहीं चाहता तो ऐसा उपाय कर कि न जरा दुःख रहे, न बड़ा दुःख रहे। सबसे बड़ा दुःख है जन्म और मरणका। जन्म और मरणके बीचमें जो समय है उस समयमें उतने क्लेश नहीं होते, चाहे अनुभव किया जा रहा हो कि बहुत चिंताएँ हैं, बड़ा बोझ लदा है, लेकिन इससे भी अधिक दुःख जन्म और मरणमें है।

भैया! मरण का भी दुःख कुछ तो समझमें आता ही है, क्योंकि अब मरण आगे आयेगा, समझमें आ रहा है सब, और देखते भी हैं दूसरों का मरण, मरते समयमें शरीर सिथिल हो जाता है और बुढ़ापेके बाद मरण होता है। अगर कहीं ऐसा बर्ताव हो जाता कि यह जीव जन्मके बाद तो हो जाये बूढ़ा, बादमें बन जाये बच्चा और अंतमें मरनेके टाइम पर जवान रहे तब तो किसीको इतना दुःख ही न हो, पर जवानीमें सारी बातें कीं, परोपकार किया, धन कमाया, और अंतमें लगता है बुढ़ापा, और उस बुढ़ापे से ही लगा हुआ है मरण, तो कितनी वेदना होती है। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे तो इस वेदनामें समता रख सकते हैं और जो अज्ञानीजन हैं वे उस वेदनामें समता नहीं रख सकते हैं। तो मरणका दुःख जीवनमें घटी हुई सब घटनावों से कई गुणा अधिक है।

भैया! जैसा मरणका दुःख है ऐसा ही इस जीवको जन्मके समयका भी दुःख है। पर जन्मके समयमें इन्द्रियां इसकी कमजोर थीं, सो अब उन संकटोंकी याददास्त नहीं रही। याददास्त तो तीन वर्षकी उमरकी भी नहीं होगी कि दो तीन वर्षकी उमरमें हम कैसे थे, क्या करते थे? यह भी याद नहीं है तो फिर जन्मके समय की याद कैसे होगी? तो जन्म और मरणके बहुत कठिन दुःख हैं। सो तू ऐसा काम कर कि जिससे जन्म मरणके क्लेश दूर हों। यदि दुःखोंसे तू डरता है तो क्यों ऐसा काम करता है कि बड़े दुःख तुझे उत्पन्न हों? ऐसी शिक्षा इस दोहेमें कही जा रही है।

यहां योगीन्दुदेव यह उपदेश देते हैं कि हे जीव! यदि तू अणुमात्र भी दुःख नहीं सहना चाहता है तो चारों दुःखोंके कारणभूत कर्मोंको क्यों करता है? चारों गतियोंमें जो क्लेश हैं वे क्लेश इस जीवके स्वभाव नहीं

हैं। जीवका स्वभाव तो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है, चैतन्यशक्ति है, वही कहलाता है कारणसमयसार, परमात्मतत्त्व। उस परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो परमार्थिक वीतराग नित्य आनन्दस्वरूप है, उससे यह आत्मा बिल्कुल विपरीत है। जीवमें अन्तरंग और बहिरंग रूपको यदि निरखा जाय तो महान् अन्तर विदित होता है। कहां तो जीवका शुद्ध ज्ञायकस्वभाव और कहां जीवके यह क्लेशोंकी वृद्धि। जब यह जीव अपने स्वभावकी भावनासे विमुख होता है तब इसे नारकादि दुःख उत्पन्न होते हैं। सो उन नारकादिक दुःखोंके कारणभूत जो काम हैं कषाय करना, विभ्रम करना है – ऐसे जो आत्माके विपरीत परिणमन हैं उनको क्यों करता है?

यहां इस व्याख्यानको जानकर कर्तव्य क्या करना चाहिए? उसे योगीन्दुदेव कहते हैं कि अपने शुद्ध आत्माकी भावना करनी चाहिए। कोई भी जीव हो, अपनेमें कुछ न कुछ अहंकी भावना बनाए रहता है अर्थात् जीवके अन्तर कुछ न कुछ अहंकी श्रद्धा रहती है। मैं सेठ हूं, मैं बाबू हूं, पंडित हूं, त्यागी हूं, ज्ञानी हूं, चतुर हूं, किसी न किसी रूपमें अपने आपकी प्रतीति बनाए रहता है। सो नानारूप तो यह प्रतीति न बनाए और एक निज शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूपमात्र हूं, ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, सबसे अछूता केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं. ऐसी भावना बनाए तो इस भावनासे दुःखोंसे मुक्ति होनेका कारण बन सकता है। यह भावना रागादिक विकल्पोंसे रहित है। मैं ज्ञानरहित हूं, ऐसी भावना हो तो रागसे छुटकारा हो सकता है। मैं तो रागी हूं, मोही हूं, इस प्रकारकी प्रतीति रखे तो राग और मोहसे मुक्ति कैसे हो सकती है? इस कारण अपनेको शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करनी चाहिए। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि बाह्यपदार्थोंके संगसे आसक्त हुआ यह जगत् क्षण भर भी आत्माको नहीं सोचता है।

धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइ करइ अयाणु।
मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु॥ १२३॥

यह जीव लोकधंधमें पड़ गया। धंधा कहते किसे हैं— जो आत्माके स्वरूपकी चीज न हो और किसी निमित्त अथवा धुनसे उत्पन्न हुआ हो उसे धंधा कहते हैं। अथवा खोटे ध्यानोंके कारणभूत पदार्थोंका व्यासंग करे, संचय करे, तत्सम्बन्धी अनेक चिंताएं रखे, इन सबको धंधा कहते हैं। जैसे कोई लोग पूछते हैं कि भाई साहब आप क्या धंधा करते हैं? तो उसके पूछनेका शब्दोंसे यह अर्थ निकलता है कि भाई सहाब आप कौन-कौनसे ख्याल बना बनाकर अपनेको दुःखी किया करते हैं? धंधा कहते हैं खोटे ध्यानको, व्यासङ्गको। जो मलिन आशय बनाता है उसका नाम धंधा है।

मिथ्यात्व विषयकषायके निमित्तसे उत्पन्न हुए दुर्ध्यानोंके व्यासंगमें यह जगत् गिर गया। सारा जगत् शुद्ध आत्माकी भावनासे पराङ्मुख है। यह मोही प्राणियोंका समूह कर्मोंको करता है। यह जीव किसको कर सकता है? जीव का स्वरूप देखो। शरीर तो जीव है नहीं। शरीरके अन्तरमें जीव है। वह जीव अपने भावोंसे बँधा है। हम इसे छू तक नहीं रहे हैं। देखो विचित्रता बंधनकी कि शरीर जीवको पकड़ नहीं सकता, छू नहीं सकता। लेकिन यह जीव स्वयं ही ऐसा आधीन बन गया है कि शरीरके बंधनमें पड़ा है।

भैया! जीव बिना शरीरके बहुत बढ़िया रहता है। उसीको कहते हैं सिद्ध। जब तक यह शरीरमें रहता है तब तक तो है यह बुरा और जब शरीरके बिना यह जीव रह जाये तब है आराध्य। फिर तीनों लोकोंके प्राणी इसे पूजते हैं। अंतरमें केवल दृष्टिका फेर करना है। हाथ पैरसे कोई परिश्रम नहीं करना है। मेरा शरीर थक गया इसलिए मैं धर्म नहीं कर सकता, यह बात गलत है। मैं रोगी हूं इसलिए धर्म नहीं कर सकता, यह सोचना गलत है। धर्म तो आत्माके शुद्धस्वभावकी दृष्टि करनेमें और उस शुद्ध स्वभावके निकट ही अपने ज्ञानको झुकाये रहनेका नाम है।

हम व्यवहारधर्म करते हैं, पूजन करते हैं, दर्शन करते हैं। पूजन और दर्शनका प्रयोजन क्या है कि हम भगवान्के उस निर्मल वीतराग गुणविकासरूप स्वरूपको दृष्टिमें लें। केवल उनके माता पिता का नाम लेने से ही सिद्धि नहीं हो जाती है कि तुम इक्ष्वाकुवंशके हो, तुम्हारा देदीप्यमान् शरीर है, तुम अमुकके पुत्र हो--इतना कहने से न तो भगवान्की भक्ति हुई और न स्वरूपकी दृष्टि हुई। हालांकि जिसके स्वरूपमें प्रेम है, उसकी बाहरी चीजोंका भी भक्त आदर करते हैं, पर बाहरी चीजोंमें बाहिरी चीजोंकी बातों से आदर नहीं करते, किन्तु अंतरंगस्वरूपके नाते से आदर करते हैं। आपको जिससे प्रेम होगा उसके पास बैठे हुएमें उसके कपड़ों पर यदि कोई चींटी चढ़ रही हो या थोड़ासा कोई कूड़ा लगा हो तो आप बड़े प्रेमसे उसे हटाते हैं। उस कपड़ेको आप हाथसे साफ कर देते हैं। क्या आपको उसके कपड़ोंसे प्रेम है? कपड़ोंसे प्रेम नहीं है, कपड़ा पहिने हुए मित्रसे अनुराग है जिसकी वजहसे तुम उसके कपड़ोंका भी आदर कर लेते हो। पर उस कपड़े के नाते से उसका आदर आप नहीं करते हैं। वह मित्र कपड़े पहिने है, इस लिए उसके अनुरागसे आप उसके कपड़े को साफ कर देते हैं।

भगवान्के माता पिताका नाम लेना, भगवान्की सारी देहका वर्णन करना, भगवान् ने गृहस्थावस्था में जो चारित्र किया, जो उन्होंने करतूतकी उनका वर्णन करना, सो यहां कुछ माता पिता या उनके राजपाटसे प्रेम नहीं

किया जा रहा है किन्तु प्रभुने ऐसा किया। प्रेम है प्रभुस्वरूपसे और प्रभुने जो जो बातें की हैं उनको भी हम आदरसे सोचते हैं। श्री राम भगवान्का जब जिक्र आता है, अनेक जिक्र आते हैं। कहीं विषाद किया, कहीं पागलकी तरह घूमें, जब सीता हरी तो जंगलके पेड़ पौधोंसे पूछते हैं कि सीता कहां गई? और हम उन पुराणोंको बड़े आदरसे पढ़ते हैं, तो क्या हम उनकी उस पगलोईका विनय कर लेते हैं? नहीं। श्री राम पुरुषोत्तम मुक्त हुए हैं, उनके चरित्रमें गृहस्थावस्थाके लायक कर्तव्य भरे हुए हैं तो उनके गुणोंके प्रेमके कारण हम रामके चरित्रको प्रेमसे पढ़ते हैं।

जब रामका वर्णन पढ़ते हैं तो बड़ा बल मिलता है कि राम जब बालक थे तो कैसी लीला करके रहते थे? गोदमें बने रहा करते थे, लोग बड़े चावसे बड़ी भोली दृष्टिसे देखा करते थे तो क्या कोई बच्चेका नाता करके हम आदर कर रहे हैं? नहीं। हम प्रभुके स्वरूपका ध्यान करके उनकी चर्चा का आदर करते हैं। इसी प्रकार एक ज्ञायकस्वरूपके प्रेमसे रुचिके कारण हम परमात्माकी भक्ति करते हैं और परमात्माके गुणस्मरणके प्रेमसे हम उनके माता पिताका भी वर्णन करते हैं। पर प्रयोजन ज्ञानका सर्वत्र एक ही है। शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करना और उसमें रत होना--ऐसे निज शुद्ध आत्माकी भावना रखना हम सब कल्याणार्थियों का कर्तव्य है।

भैया! शरीर नहीं चलता है, न चलने दो। यह आत्मा तो एक ज्ञान प्रकाशमात्र सदा युवा है। यह बूढ़ा कभी नहीं होता। यह रोगी और शिथिल कभी नहीं होता। यह तो अमूर्त चैतन्यस्वभावमात्र है। देखो इस सदा नवीन बलिष्ट अनन्तज्ञानस्वरूप आत्माको। शरीर के भेदसे अपने आपमें भेद न करो, शरीरको रोगी देखो, किन्तु इस ज्ञानप्रकाशमात्र आत्माको रोगी मत देखो। वृद्ध होनेसे इस ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्माको वृद्ध मत देखो। ऐसे सर्वत्र सर्वदा एक ज्ञानकी उत्कृष्टतासे विभूषित यह आत्मतत्त्वकी भावना ही संकटों से मुक्ति कराने वाली हो सकती है। केवल एक ही कर्तव्य है करनेका। धर्म करो। धर्म न कर सके तो यहां वहां गिरते रहोगे। ठीक-ठिकानेका साधन न हो सकेगा।

एक उद्देश्य मालूम हो जाये, फिर वह ही व्यवहारधर्म हमारे हित पंथके लिए साधक होता है। तो इस समस्त धर्ममें हम देवपूजा करते हैं तो इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके स्मरणके लिए करते हैं। हम गुरुवोंके सत्संगमें बैठते हों, गुरुवोंकी उपासना करते हों तो वह भी इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें स्थिरता पाने का सबक सीखनेके लिए करते हैं। जब हम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते हैं तब हम अपने आपके आत्माके बारेमें मेरा क्या हित है, उस हित

को छूनेके लिए करते हैं। हम कोई संयम करते हैं, बाह्य वस्तुवोंका त्याग करते हैं, खाने पीनेका त्याग करते हैं, कुछ अवधि रखकर भी त्याग करते हैं तो हम इसलिए करते हैं कि खाने पीनेका विकल्प छूटे, बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धका भी विकल्प छूटे तो ऐसी स्थितिमें हम शुद्ध ज्ञायकस्वभावके अनुभवके अधिकारी बन सकें, इसके लिए संयम है। तप करते हैं तो इस ज्ञायक प्रभुकी आराधनाका मौका पाने के लिए।

हम दान करते हैं तो चूँकि यह परिग्रह जोड़ते जाएँ और उस परिग्रह में हम ऐसी लालसा रखें, जुड़ने दें, जुड़ते जाने दें तो इस प्रकारका विकल्प हमें शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भावनासे भ्रष्ट कर देता है और चूँकि गृहस्थीका कार्य पैसे बिना नहीं चलता, सो संचय भी करना जरूरी है, और संचय ही संचय पर दृष्टि रखी तो शुद्ध ज्ञानकी आराधना हो ही नहीं सकती है। इस कारण संचय भी करें और त्याग भी करना, दान भी करना चाहिए। कोई गृहस्थ यह सोचे की भारी संचय किया जाये तो दान भी करना ठीक है। हम तो अपने गुजारे के लिए ही थोड़ा साधन संचय करते हैं, फिर दान न दें तो कुछ नुकसान नहीं है। बहुत कमायें तो त्याग करना चाहिए, दान देना चाहिए, थोड़ी कमाई है तो क्या द न दें ? हम तो इसी उद्देश्यसे थोड़ी कमाई रखते हैं कि न ज्यादा कमाएँ, न दान दें।

भैया ! सबसे अच्छा तो यही है कि अपने गुजारे के माफिक कमाई करके संतुष्ट रहो, लेकिन दानका विभाग करना अत्यन्त आवश्यक है। थोड़ा कमावो तो थोड़ा विभाग और बहुत कमावो तो बहुत विभाग हो जायेगा। कोई सोचे कि थोड़ी ही कमाई करलें ठीक है, पर और जीवोंके लिए थोड़ी त्यागकी बुद्धि न रखें तो वही दोष आता है जो बहुत धन कमाकर त्याग न करनेमें दोष आता है। वह इसलिए दोष है कि कमाकर त्याग नहीं करता, यह त्यागका कर्तव्य गृहस्थके निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपके पात्र बने रहने के लिए है। उद्देश्यका ठीक पता हो तो यह सब व्यवहारधर्म और कर्तव्य हमारे लिए कई गुणा फलित होते हैं।

भैया ! उद्देश्यका पता न हो तो ये सब चीजें ऐसी रह जाती हैं जैसे कि कोई पर्व मना लें। जैसे एक संक्रांतिका त्यौहार है। उस दिन तिल के लड्डू बना लिया, शक्कर के कुछ गहने बना लिया, मोल ले लिया, छोटे छोटे मिठाई के घोड़े खरीद लिया, सो बच्चोंको खिलाते हैं—जैसे एक यह त्यौहार है, इसी तरह दसलाक्षणी दीवाली आदि पर्वोंके मर्मका पता न होकर इनको भी मना लिया तो ये सब त्यौहारमात्र रह जायेंगे क्योंकि इनके लक्ष्यका पता नहीं है।

अपने जैनियोंके एक दीवालीका त्यौहार है— इसमें दीपक जलानेके लिए मन्दिर आ गए। पता नहीं है कि संसारके संकटोंको टालनेके लिए निज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनी आवश्यक है। अतः महावीर स्वामीने इस चैतन्यस्वभावकी दृष्टि करके, इन्द्रिय विजय करके, अपने आत्माकी आराधना करके आरम्भपरिग्रहसे दूर होकर एक निर्विकल्प समाधिकी थी, जिसके प्रतापसे चार अघातिया कर्मोंका नाश कर अरहंत भगवान् हुए, पश्चात् शेष अघातिया कर्मोंका नाश कर सिद्ध हुए। सो मन्दिर जाकर उस प्रभुका स्मरण करें कि उसीकी तरह मुझे बनना है। ऐसी भावना उस त्यौहारमें हो तो वह त्यौहार है। कोई भी त्यौहार ले लो। प्रत्येक ज्ञानी पुरुषको अपने हितका निर्णय अवश्य करना चाहिए कि मेरा हित किस बातमें है ?

उद्देश्यका पता न हो तो वे ही कार्य मात्र विडम्बना बन जाते हैं। एक कथानक है कि एक सेठ थे। उन्होंने बिरादरीका एक प्रीतिभोज किया। तो उसमें सारा सामान भी बनवाया और सोचा कि लोग हमारी ही पत्तलमें तो खा जायेंगे और उस ही पत्तलसे सींक निकाल कर दांत कुरेदेंगे, हमारी ही पत्तलमें छेद करके जायेंगे। जब पत्तलसे सींक निकालो तो छेद हो जाता है ना, तो उसको बुरा मानते हैं। कहते हैं ना कि उसी पत्तलमें खाया और उसीमें छेद किया। याने कृतघ्न पुरुषको ऐसा कहा जाता है, याने जिसने बड़ा उपकारका कार्य किया और उसे ही धोखा दिया। तो जहां मिठाई परोसनेका प्रबन्ध किया, वहीं चार-चार अंगुलकी पत्तलमें सींक भी परोस दी। सोचा कि हर एक भाई खा लेनेके बादमें इसी सींकसे दांत कुरेद लेगा। पत्तल छेद होनेसे बच जायगी।

उसके बाद सेठ तो गुजर गए, उनके लड़के होशियार हुए। विवाह-काजकी कोई पंगत उन्होंने भी की। उनके यह विचार आया कि खानपानमें बापसे दुगना काम करना चाहिए ताकि बापका भी नाम हो और अपना नाम भी हो। सेठने तो ३ मिठाई बनवाई थी, सो उन्होंने ५ मिठाई बनवाई। सेठ ने चार अंगुलकी सींक परोसी थी, उन्होंने १२-१२ अंगुलकी मोटी डंडी परोसी, क्योंकि बापसे ज्यादा नाम उठाना है ना।

उनके गुजरनेके बाद पोतोंने भी पंगत की। सोचा कि बापने तो ५ मिठाई बनवाई थी, हम ६ बनवायेंगे। सो ६ मिठाई बनवायी और बापने तो १२ अंगुलकी डंडी साथमें परोसी थी, सो उन्होंने डेढ़-डेढ़ हाथकी डंडी साथ में परोसी। अब कहां तो चार अंगुलकी सींकका प्रयोजन किया था और उसके उद्देश्यको न पकड़ सकनेके कारण ऐसी नौबत आ गई कि डेढ़-डेढ़ हाथके डंडे परोसे गए। इसी तरह हम यदि व्यवहारधर्म करनेका उद्देश्य

नहीं पकड़ सकते तो यह व्यवहारधर्म रूखा हो जायगा। उसके करनेका कुछ फायदा भी नहीं हो पाता है। इसलिए जानना चाहिए कि हम धर्मके लिए जितने कर्तव्य करते हैं उन सबका प्रयोजन है कषाय घटना, इच्छा घटना और अपने सहजस्वरूपका परिचय होना। ये व्यर्थको मोह कषाय सता रहे हैं। हम साथमें कुछ लाए नहीं, कुछ साथमें जायगा नहीं। जब तक बाह्य वस्तुयें समीप हैं तब तक ही केवल क्लेशके ही कारण हैं, कोई शांतिके कारण नहीं बनते हैं।

बहुतेरे उपदेश बांचने, सुनने पर भी ऐसा व्यामोह है कि यह मेरा ही है, ऐसी दृष्टि बनाए हैं। ऐसी दृष्टि भीतर में न जगे, बल्कि ऐसी भावना जगे कि मैं तो मात्र ज्ञानप्रकाशरूप हूं, इसके अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं है। २२ घंटे, २३ घंटे मेरा-मेरा कहो तो २ मिनट तो ऐसी झलक आए, घर में रहते हुए या दूकानमें या मन्दिरमें, किसी भी जगह दो मिनटको झलक आए तो रात दिनमें वह दो मिनटका समय ही आपको २४ घन्टे शांत रख सकता है। जैसे बहुत बढ़िया भोजन किया, जिसमें बड़ा मीठा स्वाद था तो खाते समय तो आनन्द माना ही था, मगर खा चुकनेके बाद भी घंटे दो घंटे उसका जिकर, करके ख्याल करके मौज माना करते हैं। तो उसका थोड़ा ही समय चलता है, मगर दो क्षण भी, एक सेकिण्ड भी ऐसी झलक आ जाय कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरा इस शरीर तकसे भी कोई नाता नहीं है, मैं केवल सत्तामात्र हूं— ऐसी झलक १ सेकिण्डको भी हो जाय तो यह १ सेकिण्डका समय २४ घंटेको शांति देनेका काम कर सकता है।

भैया! अपने चित्त पर मोहकी बातें लादते रहें तो कौनसी सिद्धि होती है। घरके लोग जो प्रसन्न रहते हैं, सुखी रहते हैं, क्या रात दिन तुम मोह न करो तो भी वही बात होगी, बाहरमें जो बातें अब हो रही हैं, फर्क बिलकुल न आयगा, और बढ़वारी हो जायगी। पर मोहरहित शुद्ध आत्मतत्त्व की झलक हो जाय तो यह उद्धार हो जायेगा, मोक्षमार्ग जग जायेगा, नहीं तो सोचो— इस मनुष्यजीवनसे जिए, जी लो, बड़े साधन मिल गए, मकान मिल गए, सम्पदा मिल गई, अच्छे मिल गये ये सब। अन्तमें क्या होगा? बूढ़े न होंगे क्या? अन्तमें मरण न होगा क्या? शरीरको छोड़कर जाना न पड़ेगा क्या? फिर क्या होगा?

भैया! वर्तमानमें जो मिला है वही तो अपना सर्वस्व नहीं है। इस पर ही तो सारे लेखे जोखे नहीं चलाने हैं। क्षणिक तो सर्वपरिग्रहोंसे रहित केवल ज्ञानप्रकाश मात्र अपने आत्मतत्त्वकी झलक तो कर लो। यह सारा जगत् दुर्ध्यानके धंधेमें पड़कर, शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित होकर नाना

कर्मोंको करता है, ज्ञानरहित है। यह अनन्त ज्ञानादिक मोक्षका कारणभूत अपने आत्मतत्त्वका एक क्षण भी ध्यान नहीं करता। अपने आपको यों निरखना चाहिए कि मैं स्वभावसे वीतराग परमानन्दरसके स्वादमें परिणत एक ज्ञानप्रकाशमात्र सर्वविविक्त शुद्ध आत्मा हूं— अब इस ही अर्थको दृढ़ करते हैं।

जोणि-लक्खइ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु।
पुत्तकुलत्तहिं मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ।। १२४ ।।

जब तक इसका ज्ञान महान् नहीं बना अर्थात् परवस्तुवोंके रागमें न अटक कर अपने सहजस्वरूपका स्पर्श करने वाला नहीं बना है तब तक यह जीव पुत्री, स्त्री आदिकके मोहसे दुःखोंको सहता हुआ चौरासी लाख योनियोंमें भटकता फिरता है। रागभावका फल तुरन्त आकुलतावोंको उत्पन्न करता है। रागसे सुख नहीं होता है। पर जैसे सूवरोंको गंदी जगहमें ही रहना पसंद है, कीड़ोंको नालियोंमें रहना पसंद है, इसी तरह पर्यायमें अटका अज्ञानी जीव रागमें ही रहता सहना चैन मानता है।

भैया! राग मौजका कारण नहीं है। उसका तो भाव ही क्लेश उत्पन्न करता है। धन बढ़ जाय, इज्जत बढ़ जाय, नाम बढ़ जाय, उसके सम्बन्धमें राग है तो समझो कि अभी हम निम्न दशामें हैं। रागसे मौज कभी नहीं आ सकती। उसका तो प्रयोजन दुःख ही पैदा करनेका है। इस जगत्में बसकर बड़ी सावधानीकी जरूरत है। सबसे अच्छा भव हम आप मनुष्योंने पाया है। मनुष्यभव सबसे श्रेष्ठ है, और भवोंसे मुकाबला करके देख लो। पशु, पक्षी, कीड़े-मकौड़े सब जीवोंका मुकाबला करके परख लो, यह मनुष्यभव कितना श्रेष्ठ है? इसे पाकर यदि अपूर्व कार्य न किया, अपने आपके स्वरूपका परिचय न कर सके तो इतना उत्कृष्ठ मनुष्यभव पानेका फिर सार ही क्या मिला? फिर संसारकी चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण ही होता रहेगा। इस तरह आचार्योंने अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करनेका उपदेश किया है।

आत्माके ज्ञानको महान् बताया है। यह आत्माका ज्ञान जिसमें राग-द्वेष रहित निर्विकल्प सहजस्वरूपका सम्वेदन है, यह महान क्यों है कि महान् जो मोक्षरूप प्रयोजन है उसका यह साधक है। दूसरे महान् जो अन्तरात्मा पुरुष हैं उनके ही वशकी यह बात है। इसलिए महान् ज्ञान जब तक जीवोंके उत्पन्न नहीं होता तब तक पुत्र स्त्री आदिकमें मोहित होता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता है।

अब यह सम्बोधन करते हैं कि हे जीव! गृह परिजन शरीर आदिकके

ममत्वको मत करो।

जीवम जाणहु अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहि दिट्ठु॥ २५॥

हे जीव ! तू घर परिवार शरीर और मित्र आदिक को अपना मत मान, क्योंकि आगममें योगी पुरुषोंने ऐसा बताया है कि ये सब समागम कर्मोंके आधीन हैं और विनाशीक हैं। जिस जीवके जो इन्द्रिय आखिरी होती है, करीब करीब उसका विषय तीव्र होता है। दो इन्द्रिय जीवकी धुन रसना इन्द्रियके विषयमें रहती है। तीन इन्द्रिय जीवके गंधकी आसक्ति बड़ी तेज होती है, चार इन्द्रिय जीव आंखके विषयमें मर भी जाते हैं। पंचेन्द्रिय जीव कर्णेन्द्रियके विषयमें आसक्त रहते हैं, सावधान भी रहते हैं, जरा सी आहट हुई कि तुरन्त सावधान हो जाते हैं। और उन पंचइन्द्रियमें जो विशेष मन वाले जीव हैं उनके मनकी छलांग देखो कितनी तेज है, क्योंकि अच्छे उदयके कारण आखिरी चीज मिल पायी है। सो जो बड़ी मुश्किलसे दुर्लभतासे साधन मिला है उसकी तृष्णा होना प्राकृतिक ही है। ये समस्त समागम विनाशीक हैं, भिन्न हैं, इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इनको अभी छोड़ दो तो कोई हानि नहीं है और नहीं तो ममत्व तो छोड़ दो।

यह आत्मा अविनाशी स्वयं सुरक्षित है। हमें कोई दूसरी वस्तु पकड़े हुए नहीं है, पर स्वयंकी योग्यता भी कुछ कहलाती है। स्वयं ही रागभाव, मोहभावमें बसकर स्वयं ही आधीन बन रहे हैं। यहां योगीन्दुदेव समझाते हैं कि हे जीव ! तुम घर परिजन सर्व इष्ट मित्र आदिकको अपना मत जानो। ये सब कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर बने हुए हैं। जिन कर्मोंके उदयके निमित्तसे ये समागम जुटे हैं वे कर्म इस शुद्ध चैतन्य स्वभावी अमूर्त निज आत्मासे विपरीत हैं। यह मैं चैतन्यस्वभाव मात्र हूं, और ये कर्म जड़ हैं। उनके उदयका निमित्त पाकर आत्मामें जो परिणमन हुआ है वह परिणमन भी जड़वत् है, ज्ञानशून्य है। आत्माके ज्ञान गुणमें कभी विकार नहीं आता, ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञान कम हो जाये पर ज्ञानावरणका उदय ज्ञानके विकार का कारण नहीं होता, क्योंकि ज्ञान आत्माका स्वरूप है, ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञानमें विकार नहीं आ पाता। वह चेतनेका स्वरूप लिए हुए है।

भैया ! जो गुण चेतनका स्वरूप लिए हुए नहीं होते, उन गुणोंमें विकार आता है। आत्माके श्रद्धागुणमें, आनन्दगुणमें, चारित्रगुणमें, इनमें विकार आता है क्योंकि ये गुण स्वयं चेतनका स्वरूप रखते हैं। ज्ञान और दर्शन गुणमें विकार नहीं आता, आच्छादन हो जाये, प्रकट न हो, पर विकार नहीं आता। कारण यह है कि यदि अपनी रक्खी वासतविक पूँजीका

भी विनाश होने लगे तो कभी हमारा स्वरूप ही खत्म हो जाये, इसी कारण जीवका असाधारण स्वरूप ही ज्ञान कहा है। कहां तो मेरा शुद्ध चैतन्यस्वभाव और कहां अचेतन अनेक द्रव्यपर्यायिरूप ये कर्म ? इनके उदयसे यह इष्ट मित्र आदिकका जो समागम जुड़ा है, इसको तू अपना मत मान।

अकृत्रिम टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक निज ज्ञायक स्वभाव जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उससे ये सारे समागम विपरीत हैं। मेरा स्वरूप सहज है, अकृत्रिम है और ये समस्त ठाठ बाठ समागम कृत्रिम हैं, उदयाधीन हैं। योगी पुरुषोंने वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत आगममें सर्वविनाशीक पदार्थों को कर्माधीन बताया है। यद्यपि हम आप पर एक नहीं अनेक संकट छाये हैं, और वे छाये हैं अपनी असावधानीसे और यद्यपि उस असावधानीमें कर्मोदय निमित्त है, पर अपनी ओरसे करने का काम क्या है ? क्या हम कर्मोंके उदयकी जोरावरी कह-कह कर अपना समय व्यतीत करें ? जो आज के भवमें साधन मिले हैं, ज्ञान मिला है, उससे अब यहां वहां की कुछ बाधाकारक परिस्थितियां न देखकर अपनी शक्ति पूर्णतया लगाकर जो भी अनुरूप है, हम ज्ञानदृष्टिमें जुट जाएँ।

भैया ! आखिर मुक्तिके मिलनेका साधन ज्ञान ही तो है। सो हमारे आपके ज्ञानमें इतना बल आ गया है कि हम वस्तुके स्वरूपको भली प्रकार विचार सकें। जो इतना काम कर सके, व्यापार कर सके, बड़ा हिसाब लगा सके, अन्य व्यवसाय कर सके, इसमें जो बुद्धियां चलती हैं, वे क्या बिना ज्ञानके चला करती हैं ? ज्ञानबल हम में प्रकट है, पर कमी यह है कि हम ज्ञानका ठीक-ठीक उपयोग नहीं करते। ज्ञानका उपयोग भला हो सके इसके आज दो ही उपाय हैं– ज्ञानका अर्जन करना और सत्संग सेवा करना। दो ही ऐसे उपाय हैं—ज्ञानार्जन अपने आप भी किया जा सकता है और ज्ञानियोंसे मदद लेकर भी किया जाना चाहिए। और सत्संग—जिसको ज्ञानकी रुचि है, जो संसारके संकटोंसे छूटनेकी अंतरंगमें अभिलाषा रखता है। जो वर्तमान समागमको विपत्तिरूप, कष्टरूप, एक कीचड़रूप श्रद्धान् करता है--ऐसा ही पुरुष तो सज्जन है, सत्पुरुष है। उन सज्जन पुरुषोंका ही संग सत्संग कहलाता है। इन दो साधनोंके बलसे हम अपने ज्ञानविकास को करें।

बाह्य और बाह्यसमागमोंमें, परिकरमें, परिजनमें, परिवारमें, अपने अधिकारमें हुए धन वैभवमें ऐसी बुद्धि न रखो कि मेरे ही तो ये सब ठाठ हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है—ऐसी बुद्धिको मिटावो। कारण यह है कि जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा। जिसका वियोग हो

जाये उसका संयोग मिले या न मिले दोनों ही बातें समायी हैं, पर जिसका संयोग हुआ है उसका तो वियोग नियमसे ही है। यहां यह नहीं है कि जिसका संयोग है उसके किसीके वियोग होता होगा और किसीके न होता होगा—ऐसा नहीं है।

जब दो चीजोंका संयोग है और वियोग होगा तो दो में से कोई एक जायगा ना, जैसे मान लो हम हैं, आप हैं, दोनोंका समागम है, तो वियोग होगा तो आपके रहते हुए हम गुजर जायें यह भी सम्भव है कि हमारे रहते हुए आप ही गुजर जायें। यदि समागममें हमने हर्ष मान रखा है तो दोनों ही दशामें दुःख होगा ही। हम जा रहे हों तो यह सोचकर दुःख मिलेगा कि ऐसा तो साधन जुटा, ऐसा तो समागम मिला, अब सब कुछ छोड़कर जाना हो रहा है। या आप निकल भागे तो कुछ यह दुःख मानेंगे कि हाय इष्ट का वियोग हुआ है।

भैया! मरने वालेसे ज्यादा दुःख बचने वालेको है। मरने वाला तो मर गया। नया जन्म पा गया, जहां गया होगा उसे नई दुनिया दिख रही होगी। हम लोगोंका ध्यान न होगा, और जो घरमें जिन्दा बच गया है उस के ज्ञानमें तो सारी बातें ही हैं— हमारा यह गुजर गया, कितना अच्छा बोलता था, कितना अच्छा गुण, कैसा हुआ था। सारी बातें विदित हैं ना, तो उसका वियोग होने पर जो बच गया है उसको दुःख है। तो टोटेमें यह बचने वाला ही रहा। मरने वाला टोटेमें नहीं र ा। मरनेके कारण, वियोग के कारण मरने वाला टोटेमें नहीं रहा। उसने यदि अपने जीवनमें अन्याय किया, पाप किया, छल किया तो इस कारणसे वह टोटेमें रहा, पर मरनेके कारण वह टोटेमें नहीं है। जो यह जिन्दा रह गया है वह वियोगकी घटना गुजरनेके कारण टोटेमें है।

ये मिले हुए जो समागम हैं, विनाशीक हैं, कभी तो मिटेंगे, कभी तो तो वियोग होगा, ऐसी जो भावना रखेगा उसको अन्तमें दुःखी न होना पड़ेगा। अध्रुव पदार्थको ध्रुव मानकर रहे तो वियोगके समयमें अत्यन्त क्लेश होगा। और अध्रुवको अध्रुव माना जाय तो वियोगके समयमें क्लेश न होगा। वह उस समय अपने मनमें यह सोच लेगा कि यह बात तो हम दसों वर्षोंसे जान रहे थे कि ये चीजें मिली हैं तो कभी मिटेंगी। जिसको हम पहिलेसे न जानते हों और मिट जाय तो क्लेश होता है। अज्ञानी जीव पहिलेसे नहीं जान रहा है यह कि यह कभी मिटेगा।

किसी दूसरेके घरमें कोई गुजर गया तो उसके घर जाना ही पड़ता है, गया, तो वहां भी वह अज्ञानी ऐसा विश्वास लिए है कि यह गुजरा है,

ये तो गुजरा ही करते हैं। हमें जो समागम मिला है वह नहीं बिछुड़ेगा, औरोंका तो इस तरहसे बिछुड़ा ही करता है— ऐसा भाव उस अज्ञानीके कूट कूटकर भरा है। समागमोंके बिछुड़नेका ज्ञान उस अज्ञानीको होता तो है पर उसमें यह बात है कि एक तो होता है अन्तरंगका, मर्मका ज्ञान और एक होता है ऊपरका सोचना। वे अज्ञानी दूसरोंके मरण और वियोगको देखकर ऊपरी तो सोचना रखते हैं पर अन्तरंगमें मर्म बिंधे हुए ज्ञानसे नहीं सोचा करते हैं।

यहां वस्तुवोंके अध्रुवस्वरूपका व्याख्यान जानकर दो बातें करना है कि मेरा जो ध्रुव ज्ञानस्वरूप है, शुद्ध आत्मस्वभाव है उसकी तो हम पकड़ करें और जो अध्रुव गृह आदिक परद्रव्य हैं उनमें ममत्व करें। ये जितनी भी बातें सुनते हैं और बांचते हैं, हम ऐसा सोचें कि इन पर तो हमारा अमल हो ही नहीं रहा है। अरे! नहीं अमल हो रहा है तो यह बतावो कि २४ घंटेमें कभी भी १ मिनटको मर्मभिदेके ढंगसे ऐसा ख्याल होता है कि नहीं? यदि एक मिनटको भी यह ख्याल नहीं होता है तो बेकार है। अगर एक आध मिनटको भी किसी जगह ऐसी झलक आ जाय तो सारे दिन रात शान्तिका प्रकाश पावेगा। यद्यपि इतना इसके अमलमें नहीं गुजरता है, लेकिन इसके १ मिनटके भी अनुभवसे सारे रात दिनके समयमें शान्तिका प्रकाश पाता है।

भैया! ज्ञानका साहस ही अपूर्व साहस है। कितने ही संकट सिर पर आ जायें एक ज्ञानका साहस ही तो बनाना है। संकट कुछ नहीं है। ज्ञानका साहस नहीं है तो सम्पत्तिमें भी रहकर संकट है और ज्ञानका साहस है तो उपद्रवके बीच रहते हुए भी संकट नहीं है—क्योंकि संकट है अपने ज्ञान की निर्मलता। दूसरा और कुछ संकट नहीं है। सो अपना जो ध्रुव ज्ञानस्वभाव है, परका आश्रय लिए बिना अपने आप अपना जो स्वरूप रह सकता है, अपने साहसके कारण उस स्वरूपरूप अपने आपकी श्रद्धा होना यही ध्रुवस्वरूपका ग्रहण है। सो अपने ध्रुवस्वरूपका ग्रहण करो और गृह आदि परद्रव्योंमें ममत्व न करो। अब ऐसा निश्चय करते हैं कि गृह परिवार आदिकी चिंतासे मोक्ष नहीं प्राप्त होना है।

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुं घरु परियणु चिंतंतु।
तो वरि चिंतहि तउजि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥ १२६ ॥

हे जीव! तू घर परिवार आदिकी चिंता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता। इसलिए उत्तम तपका ही बारम्बार चिंतन कर, क्योंकि तपसे ही तू श्रेष्ठ मोक्षको पा सकेगा। अभी घरमें भैयाके या बच्चेके मानों बुखार

चढ़ा है, तो जान लो कि बुखार चढ़ा है। ठीक है— औषधि कर रहे हैं, पर उसके पीछे जो निरन्तर चिंता रहती है तो बतलावो क्या उस चिंतासे कुछ फायदा हो रहा है? दवा, सेवा शुश्रूषा करना तुम्हारा काम है। ठीक है, करते जावो, पर उसमें ही चित्त बसा है, उसकी चिंता है तो उससे कुछ लाभ नहीं होने को है। तो जब तक मोह और रागकी प्रेरणा है तब तक ये सारी बातें होती हैं।

हे जीव! तू अपने ठिकाने को तो देख, जीवका निजी घर तो समझ। जीवके ठिकानेका घर है या तो निगोदमें या सिद्ध पदमें। जीवके दो ही ठिकाने हैं। ठिकाना उसे कहते हैं जहां पर जीवका बहुत समय गुजरे। हम धर्मशालामें ७ दिन ठहर लेंगे, फिर छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए वह ठिकाने का घर नहीं माना। किसी रिश्तेदारके घर तीन दिन ठहर लेंगे—वह ठिकाने का घर नहीं है। और अपने घरमें वर्षों तक ठहर लेंगे—वह ठिकानेका घर है। इसी तरह जीवके ठिकानेके दो घर हैं। एक तो निगोदमें रहे—चाहे कितने ही काल व्यतीत हो जाएँ, जहां एक स्वांसमें १८ बार जन्म मरण करें, और एक ठिकाना है सिद्ध पद। तो निगोदका ठिकाना तो हँसीके लिए बताया है, पर ठिकाना तो असली सिद्धपदका ही है। बाकी और स्थावर पर्यायमें जो जीव रहते हैं उनका कम समय है।

निगोदको छोड़कर बाकी जो स्थावर जीव हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक बनस्पति— ये जीव बहुत समय तक नहीं रहते, जितना कि निगोदमें रहते हैं। एक चीज और है कि सबके तो लिमिट है कि त्रस पर्याय में इतने वर्ष रहें, पृथ्वी, जल, अग्नि इतने दिन रहें, पर निगोदमें लिमिट नहीं है। निकलते जरूर हैं, पर बने रहें तो बने रहें। और और पर्यायोंमें लिमिट है, इसके बाद उसे छोड़ना ही पड़ेगा।

सबसे उत्कृष्ट पद अपना मोक्षपद है; जो कर्म, मल, कलंकसे रहित है। केवल ज्ञानादिक अनन्त गुण करिके सहित है। ऐसे मोक्षको चिंतासे न पा सकेंगे। चिंता और चितामें एक बिंदी का फर्क है। चिंतामें एक बिन्दी लगी है, चितामें नहीं लगी है। चिंतामें चार मात्रा हैं, यद्यपि स्वर दो हैं मगर दीर्घ हैं सो चार मात्रा हैं और चितामें तीन मात्रा हैं। यों भी देखलो और भोग करके देखलो चिंता चितासे बढ़कर है। ऐसी चिंता करके हे जीव! तू मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता। मोक्ष होता है सर्वकर्मोंसे सदाके लिए छुटकारा होनेसे। और उसका स्वरूप एक ही प्रकारका है और उसका भी जो मार्ग है, साक्षात् वह भी एक प्रकारका है, पर जो बंधन हैं, फंसाव हैं वे नाना तरहके हैं।

सो भैया ! जैसे-जैसे फँसावसे हम अलग हो जाते हैं वैसे ही वैसे मोक्ष मार्गमें कदम बढ़ता है। सो फंसावके अलग होनेके भेदसे मोक्षमार्गमें भेद कर दिया गया है। जो है सो मिल जाये, जो यथार्थ है उस पर ही दृष्टि रह जाये, यही मोक्षमार्ग है। किन्तु फँसे तो हैं हम बहुत विकट, बाह्य समागमों की अपेक्षा भी और अंतरंगके विकल्पोंकी अपेक्षा भी। तो जैसे-जैसे हम बाह्यसमागमोंसे और विकल्पोंसे दूर होते हैं वैसे ही वैसे हम यह कहते हैं कि अब हम मोक्षमार्गमें अधिक बढ़े। इसीलिए यह मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रय स्वरूप है और व्यवहाररत्नत्रय स्वरूप है। सो ऐसे मोक्षको और मोक्षमार्गको हे जीव ! तू नहीं पा सकता। यदि घर परिवार आदिक परद्रव्योंमें चिंता ही करता रहा। तब तू उत्कृष्ट तपका ही बारम्बार चिंतन कर जिससे महान् मोक्ष पद प्राप्त करेगा। याने तपश्चरणकी चिंता कर, गृह परिवार आदिक की चिंता न कर।

भैया ! चिंता न करने से पुण्य बढ़ता है और पुण्य बढ़नेसे जो पहिले कमाया हुआ पुण्य है वह भी जल्दी आगे आ जाता है और कार्यसिद्धि होती है। तो चिंता न करनेसे कार्यसिद्धि जल्दी होती है और चिंता करने से कार्य होने में विलम्ब हो जाता है। याने कितनी उल्टी बात है कि जो हम करते हैं उससे तो बिगाड़ है और चिंता नहीं करते तो जो हम चाह रहे हैं उससे दूना मिलता है और दुगुनी उन्नति होती है। पर उपादान मलिन है इस कारणसे हम उस चिंताको छुटाना कठिन समझते हैं।

भैया ! बजाय समागमकी चिंता करने से एक अपने तप संयम ज्ञान साधना इनकी चिंता करना श्रेष्ठ है। यह बात तब आ सकती है जब अपने को ऐसा फक्कड़ बनालें अर्थात् परिग्रहके सम्बन्धसे मैं बड़ा हूं, मेरी पोजीशन है, गुजारा है, इन विकल्पोंको तोड़कर यह अनुभव कर सकें कि मेरी जो स्थिति है, उसीमें गुजारा है तो अन्तरमें इतना साहस कर सकते हैं कि बाह्य चिंता न करें और अपने कल्याणकी चिंता करें।

यह मोक्ष महान् बताया गया है। उसे महान् बताने के कई कारण हैं। एक तो यह स्वयं महान् है क्योंकि महान् विकासके स्वरूपको लिए हुए है। दूसरे तीर्थंकर आदि महापुरुषोंके द्वारा यह सेवा गया है, अर्थात् बड़े पुरुष इस मोक्षकी उपासना करते हैं इस कारण महान् है। और महान् विकट कर्मोंके अभावसे मोक्ष होता है इस कारण वह महान् है। ऐसे महान् मोक्षको तपसे ही प्राप्त किया जा सकता है। गृह परिवार आदिककी चिंतासे यह महान् पद नहीं प्राप्त होता है।

इस दोहेमें यह दिखाया गया है कि समस्त बाह्यद्रव्योंकी इच्छाको

रोककर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होओ। वह निर्विकल्प समाधि क्या है? एक वीतराग निर्विकल्प तात्विक सहज जो आत्मीय आल्हादका अनुभव है वही परम समाधि है। समाधि भी ध्यानका ही रूप है। धर्मध्यान भी कोई समाधिकारूप रखता है और शुक्लध्यान तो समाधि का रूप है ही। जहां रागद्वेष न होकर समतापरिणाम ही वर्त रहा हो उसे समाधि कहते हैं। ऐसी समाधिमें रहो और समस्त परद्रव्योंकी ममताका त्याग करो। यह कथन मुख्यतया साधुजनोंके लिए है, पर आत्माकी बात गृहस्थावस्थामें भी यथायोग्यो की जा सकती है।

भैया! कितने ही गृहस्थ अब भी ऐसे देखे जाते हैं कि गृह आदिक सर्ववैभव होने पर भी उसकी ममतासे दूर हैं। कोई पुरुष ऐसे देखे जा सकते हैं कि वैभव भी कुछ नहीं है, सर्वसाधारण सी बात है, फिर भी ममता कितनी लगाये हैं। तो घरमें रहते हुए भी ममता न रखो। ऐसी स्थिति हो तो सकती है, पर यदि समाधिकी स्थितिका पद होता है गृहस्थीको तो उसके त्यागनेकी आवश्यकता ही क्या थी? हां, उसकी झलक होती है, स्थिरता नहीं हो सकती है क्योंकि जीव सब एक हैं-- साधु हो या गृहस्थ हो। मन एकसा है। विचारशक्ति एकसी है, मनुष्यत्व एकसा है। फिर परमार्थ तत्वकी साधुके ही झलक हो और गृहस्थके न हो यह कैसे अन्तर हो सकता है? अन्तर होता है तो स्थिरताका अन्तर होता है। ऐसी समाधिमें रत रहकर ममताका त्याग कर एक परमात्मस्वरूपकी ही भावना करनी चाहिए।

अब जीवहिंसामें क्या दोष है? इस बातको दिखाते हैं।

मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि।
पुत्तकलत्तहँ कारणइँ तं तुहु एक्कु सहीसु ॥१२७॥

लाखों जीवोंको मारकर हे जीव! तू पाप करेगा; मगर पुत्र, स्त्री वगैरहके कारण तो उसके फलको तू अकेले ही भोगेगा। कोई ऐसा प्रश्न करने लगते हैं कि घरमें यह कमाता है बहुत और उसका उपभोग करते हैं, घरके सभी लोग स्त्री, पुत्र आदिक सभी उस कमाईको खाते हैं और उन्हींके लिए यह सब कमाई करता है, तो कमाई करने वाला अशुभ परिणाम करके, संक्लेश करके जो बहुत कमाता है वह पाप सब पर बँट जाना चाहिए? कोई ऐसा प्रश्न करता है तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि पाप तो नहीं बंट सकता, किन्तु घरके लोग यदि यह जान रहे हों कि यह अन्यायसे कमाकर लाता है, दूसरोंको सता कर लाता है और उसे फिर वे खायें तो नया पाप घरके उन लोगोंने और बांध लिया, पर कमाने वालेके पाप बंट जायें, सो नहीं होता है। बंटनेकी बात तो तब लगायी जाय जब पापका परिणाम

लोकमें थोड़ा हो और सबको पाप देना हो (हंसी)।

भैया! लोकमें पापका परिमाण थोड़ा नहीं है। जितने जीव हैं उन सब जीवोंमें अपना-अपना कषाय है। उस कषायके कारण उनके पाप परिणाम बनता है, और घर वालोंको यदि रंच भी पता न हो कि ये इस-इस तरहसे कमाई करके, अन्याय करके, अत्याचार करके कमाई करते हैं और वे उस धनको उपयोगमें लायें तो पाप उनको लगता है। और यदि पता ही नहीं है, खुशीसे रहते हैं, उस धनका खुशीसे उपयोग करते हैं, धर्मसाधना करते है तो पाप कैसे लगेगा? जो परिवारके लिए तू पाप करेगा, लाखों जीवोंको मार कर कर्मबन्ध करेगा तो उसके फलको तू अकेला ही सहेगा।

जो जीव दूसरे जीवोंका घात करता है अर्थात् प्राणोंका वियोग करता है उस जीवने निश्चयसे अपने आपके शुद्ध चैतन्य प्राणका घात किया है, तो उसे जो पाप लगा है वह वास्तवमें अपने संक्लेश परिणामों द्वारा जो चैतन्यस्वरूपको तिरोहित किया है, चैतन्य प्राणोंका घात किया है उस घातका उसे पाप लगा, मगर उस विकल्पके फलमें जो बाहरमें जीवोंका घात हुआ है, चूंकि वह घात, घात करने वालेके अभिप्रायमें अशुभ परिणाम आने पर होता है, इसलिए व्यवहारमें उसे पाप कहते हैं। क्या किसी जीव को शान्ति और समतामें रहकर जीवोंका घात करते हुए किसीने देखा है? जो भी जीवोंका घात करता है वह अशुभ परिणाम रखकर, अज्ञान भाव रखकर किया करता है। इस कारण उसे पाप लगा। उस द्रव्यहिंसामें निश्चयसे जो पाप लगा है वह घात करने वालेके अशुभपरिणामोंके कारण लगा है। तो निश्चयसे परका बध करने वालेने अपने ही शुद्ध चैतन्य प्राणका घात किया।

शुद्ध चैतन्य प्राण कैसा है, जो रागादिक विकल्पोंसे रहित है, प्रतिभासस्वरूप है और वह निजकी भावनासे दृष्ट होता है— ऐसे चैतन्य प्राण का निश्चयसे घात करके और बाह्यमें अनेक जीवोंका घात करके हिंसाके उपकरणों द्वारा अथवा पुत्र, मित्र, स्त्रीके कारण या कारणके द्वारा अपना घात करके हे जीव! तू फल तो अकेले ही भोगेगा। यहां कारणका यह अर्थ भी निकलता है कि पुत्र, स्त्री आदिकमें ममता करनेके कारण जो अनेक आकांक्षाएं उत्पन्न हुई वे ही कारण हैं, करण हैं याने शस्त्र हैं। निश्चयसे प्राणका जो इस जीवने घात किया उस घातका करने वाला शस्त्र कौन है? परिवारजनोंका विषय बनाकर, उपयोगका आश्रय बनाकर जो अनेक प्रकार की आकांक्षावोंरूप परिणाम उत्पन्न होता है वह ही इसका तीक्ष्ण शस्त्र है, जिसके द्वारा यह अपने चैतन्य प्राणोंका घात करता है। सो निश्चयसे इस

चैतन्य प्राणोंका घात करेगा और बाह्यमें अनेक जीवोंका घात करेगा तो उससे जो पाप होगा। उस पापके फलसे नरक आदिक गतियोंको तू अकेला ही सहेगा। वहां तो कोई दूसरा साथ न होगा।

भैया ! साथ तो इस जीवनमें भी किसीका नहीं है। जिसके जो विकल्प हैं उन विकल्पोंके कारण वही दुःखी है। घरके लोगोंसे प्रेम है, और अपने आरामविषयक कुछ साधन हैं, उन साधनोंको बिगड़ता हुआ देखकर रागवश शोक करता है, पर जो विकल्प करेगा दुःखी वही होता है। और इन विकल्पोंके फलमें नरक आदिक गतियोंमें जायगा। तो वहां भी फल अकेले ही भोगेगा। तो जैसे रागादिक भावोंकी उत्पत्ति होना हिंसा है, इसी तरह रागादिक भावोंका न होना अहिंसा है। यह अहिंसा है, यह अहिंसाका वास्तविक स्वरूप है। किसी परद्रव्यमें कुछ परिणति हो जाती है इस कारण से यह बन्ध होता हो- ऐसी बात नहीं है क्योंकि कर्मबन्धका कारण मिथ्यात्व अवरति और कषायभाव है। योगभाव भी है, वह आश्रवका कारण है।

भैया ! बन्धके कारणोंमें कहां यह लिखा है कि कोई जीव इस तरह तड़फे तो दूसरेका बन्ध हो। यद्यपि अपने निमित्तसे उसको तड़फन हुई, पीड़ा हुई; मगर उसका जो खुदका बन्धरूप परिणमन है उसके परिणमनके कारण यह बन्ध नहीं हुआ है, किन्तु यह ही जो अशुभ परिणाम बना, कषाय परिणाम हुआ, उन कषाय परिणामोंसे बन्ध हुआ। जब कोई यह कहे कि हम कषायका परिणाम न करें, जीवोंसे घातकी प्रवृत्ति होती हो तो होने दो। तो भाई ! यदि कषाय न करोगे तो तो दूसरे जीवोंके घातकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और कदाचित् हो भी जाय— जैसे समितिके पालन करने वाले साधुवोंके ज्ञान भी है और संयम भी है, फिर भी कोई कुन्थु जीवका घात होता है तो न उनके ज्ञानमें यह बात है और न उनकी प्रवृत्तिमें यह बात है, इस कारण उनके बन्ध नहीं होता।

भैया ! जितने भी बन्ध हैं वे अपने ही परिणामोंके द्वारा हैं। जिन्हें कर्मसिद्धान्त पर विश्वास नहीं उनकी प्रवृत्तियां पापकी ओर लगी रह सकती हैं, और जिन्हें यह विश्वास है कि छुपकर पाप हो, मायाचारसे पाप हो, प्रवृत्तिमें कुछ कर रहे हों, मनमें पाप ही बस रहा हो- ऐसी स्थितिमें दुनिया का कोई पुरुष इस पापपरिणामको नहीं जानता। न जाने, किन्तु यह पाप परिणामका होना ही कर्मोंका बन्धन हो गया और उन कर्मोंके उदयकालमें यह चाहे कितना ही कुछ विवेक या गुन्तारा लगाये कि मुझ पर कभी आपत्ति न आ सके। कहांसे आपत्ति आ सकेगी, मैंने तो सब सावधानी बना रखी है, पर इसकी सावधानी कुछ नहीं है। पता नहीं है कि किस रूपसे वह

कर्मोदयमें आकर फल दे। अतः कहीं भी हो, किसी समय हो, अपने आप में यह श्रद्धा रहनी चाहिए कि मैं यदि मार्गसे च्युत होऊंगा तो कर्मबन्ध होगा और उनका उदयकाल आयेगा तब जरूर उसका फल भोगना पड़ेगा।

इसलिए अपने आप पर ही दया करके अपने आपकी दृष्टिमें वह वह स्वयं सुखी रखने लायक है ना, तो अपने आपको सुखरूप रखनेके के लिए ऐसी सावधानी व भावना कीजिये कि प्रभु मेरे अन्तरंगमें पापकी वासना, ध्यान, रंच भी मत आए। समन्तभद्राचार्यने लिखा है कि यदि पाप रुक गये हैं तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन है? यदि पाप नहीं रुके हैं तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन है? पाप रुक गए तो यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। सर्वसिद्धि अपने आप हो जायगी। यदि पाप न रुक सकें हों अरबों खरबों की भी सम्पदा हो तो भी वह क्लेशसे, संक्लेशसे बचानेमें समर्थ न होगी।

हे जीव! यदि तू परिकरके लिए पाप करेगा तो नरक आदिक गतियोंके फलको तू अकेले ही सहेगा। यहां यह बात ध्वनित होती है कि रागादिक करना हिंसा है, और रागका अभाव होना यही वास्तवमें अहिंसा है। क्योंकि रागादिक होते हैं तो आत्माके चैतन्यप्राणका घात है और रागादिक नहीं होते हैं तो अपने आत्माकी रक्षा है। क्योंकि जिस समय यह जीव कुछ भी राग करता है तो यही अनुमान कर लो कि स्वयं क्लेशों का अनुभव करता है या नहीं। रागादिक परिणाम हों तो उनकी प्रकृति ही ऐसी है कि क्लेशों को उत्पन्न करते हुए होंगे तो निश्चय सिद्ध जो चैतन्य प्राण है, ज्ञाता द्रष्टा रूप रहनेका जो हमारा स्वभावपरिणमन है, स्वभावकी कला है, इस पर यह राग प्रहार करता है— ऐसा जानकर कि रागादिक परिणामोंका होना ही वास्तवमें हिंसा है— ऐसा जानकर इस हिंसाको छोड़ना चाहिए। निश्चयहिंसाका लक्षण अन्य ग्रन्थोंमें भी कहा है कि रागादिककी अनुत्पत्ति होना सो तो अहिंसा है और रागादिककी उत्पति होना, सो ही हिंसा है।

अब इस ही हिंसाके दोषको और दृढ़ करते हैं—

मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहु दुक्खु करीसि।
तं तह पासि अणंत गुणु अवसइ जीव लहीसि ॥ १२८ ॥

हे जीव! जो तू परजीवोंको मारकर, चूरकर दुःखी करेगा तो तू उसके फलमें तू अनन्तगुणे दुःख निश्चयसे पायेगा। मारना और चूरना इनमें क्या अन्तर है? प्राणियोंके प्राणोंका वियोग कर देना, यह तो मारना कहलाता है और हस्त, पैर आदि अवयवको छेदना, इसके मायने चूर करना कहलाता है। यदि मारकर अथवा चूरकर तू जीवको दुःख पहुंचायेगा तो

उस दिए गए दुःखके फलमें तू उससे अनन्तगुणे दुःख भोगेगा।

भैया! इस जीवने निश्चयसे दूसरे जीवको दुःख नहीं पहुंचाया, इसने अपने आपको ही बहुत दुःखी किया, आकुलित किया। और उस आकुलताकी वेदनाको मिटानेकी युक्ति उसे यह सूझी कि दूसरे प्राणीका घात कर दिया। सो इसने मिथ्यात्व रागादिकरूप तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप निश्चय प्राणोंका घात किया है। सो इस प्रकार अपने आप को और दूसरे जीवोंको तू दुःखी करेगा तो उससे भी अनन्तगुणा फल तू अवश्य पायेगा।

कोई कोई यह शंका करते हैं कि मुर्गा मुर्गी लोग मारते हैं, सो मारने से ये घटते हैं नहीं, और जितने मरते हैं उतने ही बढ़ते जाते हैं, तो यह क्या बात है? मारनेसे घटे तो समझें कि नुक्सान हो रहा है, पर मारते हैं और ये बढ़ते हैं तो इसमें तो दोष कम लगता होगा? समाधानमें यथार्थ बात तो यह है कि मारने वाले ने जो संक्लेश परिणाम किया, अज्ञानताकी विषयसेवा, राग बढ़ाया, उसका निश्चय घात हुआ और इस संसारमें वह दुःखी होगा। उसका जैसा प्रश्न था उसीके मुकाबले में यदि उत्तर देना हो तो यह दिया जा सकता है कि क्या करें, जो जीव मरते हैं मुर्गी मुर्गा वे तो मरकर मुर्गा मुर्गी बनते ही हैं और जो मारे बिना सहज बनते रहते थे, जो अपने आप बनते रहते थे वह संख्या हुई अलग और मारने वालोंकी अधिक संख्या हुई, सो वे मरकर मुर्गा मुर्गी हुए, इसलिए संख्या बढ़ रही है।

निश्चयसे तो इसने अपने प्राणोंका घात किया। जो जीव जिस प्राणीको सताता है उसके कर्मबंध बहुधा उसी प्रकारका प्राणी बनने के लायक होता है और फिर इसी तरह घाता जाता है। इसी तरहकी बहुधा बात चलती है। यहां विशेष यह जानना है कि मिथ्यात्व, रागादिक परिणमन करने वाला जीव पहिले खुदके ही शुद्ध आत्माके चैतन्यप्राणका घात करता है, पीछे अन्य जीवके प्राणोंका घात करता है। तो दूसरे जीवोंका जो प्राण घातता है, उसके तो निश्चय समझलो कि इसने अपने प्राणोंका घात किया ही था, पर कितने ही जीव ऐसे हैं कि अपने निश्चय चैतन्यका घात करते हैं और बाहरमें दूसरे जीवोंका घात नहीं भी होता है। जैसे कोई शिकारी किन्हीं पक्षियोंको मारने के लिए बंदूक छोड़ता है और वे पक्षी उड़ जायें, न मर सकें तो इस शिकारीके तो बंध हो ही गया।

सो भैया! जो निश्चय प्राणोंका घात करता है उसका तो निश्चयसे घात हो ही चुका है अन्यथा उसको दूसरे जीवके मारनेकी वृत्ति न हो। पर दूसरे जीवको मारनेका भाव कर चुकनेके बाद भी दूसरा मरे अथवा

न मरे, दोनों बातें सम्भव हैं। जैसे दूसरेका घात करने के लिए कोई हाथमें तपा लोहेका गोला हो या कोयला ही समझलो, खूब जलता हुआ कोयला हाथमें लेकर दूसरेको मारे तो घातकका हाथ तो नियमसे जल ही चुका, दूसरेके लगेगा तो जलेगा, न लगेगा तो न जलेगा। इसी प्रकार जो अपना परिणाम बुरा कर चुका, उसका तो घात हो ही गया, अब दूसरे जीवका घात हो अथवा न हो।

ऐसा और ग्रन्थोंमें भी लिखा है कि जो आत्मा कषायवान् है, निर्दयी है वह पहिले तो अपने ही से अपना घात कर डालता है, इसलिए वह आत्मघाती है पश्चात् उसकी प्रवृत्तिके निमित्तसे दूसरे जीवका घात हो या न हो, दोनों ही बातें सम्भव हैं। जीवकी आयु शेष हो तो यह मार नहीं सकता, पर इसने मारनेका भाव किया हो तो यह निःसंदेह हिंसक बन गया। भैया! किसी मनुष्यकी आदत वैसे ही जीवोंको मारने की हो और पासमें पड़ा हुआ कोयला हो, और मारनेके भावसे कोयला मसल दे तो उसके पाप लग गया। वह तो कोयला है, उसके क्या लगेगा? और किसीके सावधान होते हुए भी अनजाने में बिना भावके घात हो जाये तो उससे उसे बंध नहीं होता।

अब जीवोंके वधसे नरक गति होती है और जीवोंकी रक्षा करने से स्वर्ग होता है —ऐसा निश्चय करते हैं।

जीव वहंतहँ णरयगइ अभयपदाणे सग्गु।
बे पह जवला दरिसिया जहिं रुच्चइ तहिं लग्गु ॥१२६॥

कहते हैं कि जीवके मारने वाले पुरुषको नरक गति होती है और जीवको अभयदान देने वाले को स्वर्ग होता है। ये दोनों मार्ग अपने ही पास देखे गए हैं। अब जिसमें तुम्हारी रुचि हो उसमें ही लग जावो। अनगार धर्मामृतमें लिखा है कि व्रती पुरुष है, बाह्य संयम करता है और दयासे यदि रहित है तो उसे खोटी गति मिलना सुगम है और जो दयासहित हो और अव्रती भी हो उसको स्वर्गकी गति, अच्छी गति मिलनी सुगम है। इसी प्रकार यहां भी बताया गया है कि जो जीव घात करता है वह नरकमें जाता है और जो जीव अभयदान करता है वह स्वर्गमें जाता है। दोनों पास हैं। केवल परिणाम भर करनेकी तो बात है। तुम्हें जो पसंद हो उसमें लग जावो।

भैया! किसीको नरक गति तो पसंद नहीं है, पर इसका अर्थ यह है कि नरकगतिके कारणभूत अशुभ पापोंमें तुम्हारी रुचि है तो उनमें लगे रहो, पर जान जावो कि फल मिलेगा नरकका ही। और जीवोंके रक्षणमें रुचि हो

तो उसके फलमें स्वर्ग प्राप्त होगा। ये दोनों भाव अपने आपमें बसे हुए हैं, जिस भावका उपयोग करो उस ही भावके अनुसार तुम्हें फल प्राप्त होगा। भावनाकी ही तो बात है।

आत्मा और भाव तो अमूर्तिक हैं, कोई पिण्डरूप पदार्थ तो हैं नहीं। भावना शुभ होगी तो उत्तम बन्ध होगा और भावना अशुद्ध होगी तो पाप-होगा। इसलिए भावोंकी संभाले रखना एक अपना कर्तव्य है। यदि अपने भाव अच्छे हैं तो व्यवहार भी अच्छा बनेगा और अपने भाव बुरे हैं तो व्यवहार भी बुरा बनेगा। ऐसा नहीं है कि भाव हम अच्छा कर रहे हैं और प्रवृत्ति खोटी हो रही है। भाव यदि अच्छा है तो प्रवृत्ति भी अच्छी होगी। इसलिए अपने भावोंको तो संभाल कर रखो, जिससे नरक आदिक दुर्गतियां न हों।

यहां यह प्रकरण चल रहा है कि जीवोंका बध करने वालोंको तो नरकगति होती है और जीवोंको अभयदान देनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है। अब ये दोनों रास्ते तुम्हारे समीप हैं। तुम्हें जो रुचे उसमें लग जावो। तो यहां बन्धके सम्बन्धमें व्यवहार और निश्चयसे विभाग बना रहे हैं। निश्चयसे तो मिथ्यात्व विषयकषायरूप परिणाम होनेका नाम बध है। बध होता है निज आत्माका। कोई जीव किसी दूसरे जीवके वधको करनेमें समर्थ नहीं है। और व्यवहारसे बध है दूसरे जीवका। उसके जो १० प्राण हैं, ५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और स्वासोच्छ्वास— इनका विनाश कर देना, यही हुआ व्यवहारसे बध।

सो ऐसे दोनों प्रकारके बध करने वाले जीवकी नरकगति होती है। अभयदानका भी दोनों प्रकारसे अर्थ किया है। निश्चयसे तो वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन परिणाम होना यह अभयदान है। अपनेको भय न रहे, शंका न रहे— ऐसा जो परिणाम है वही निश्चयसे अपने आपको अभयदान देना है। ऐसा परिणाम कौन है जहां अपने आपको भय नहीं रहता है? वह परिणाम है रागद्वेषरहित निर्विकल्प अखण्ड ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आत्माका सम्वेदन। तो ऐसा जो स्वसम्वेदन है वही निश्चयसे अपना अभयदान है और व्यवहारसे दूसरे जीवका अभयदान होता है— वह है दूसरेके प्राणोंकी रक्षा कर देना।

सो इन दोनों अभयदानोंको करने वाला पुरुष स्वर्गमें जाता है। इसमें इतना और विवेक करना कि अपने आपको अभय देनेसे मोक्ष होता है और दूसरे जीवोंको अभय देनेसे स्वर्ग होता है क्योंकि अपने आपको अभय देना— इसका यह अर्थ है कि निर्विकल्प स्वसम्वेदन करना, निश्चय-

रत्नत्रयमें रहना, अभेद अनुभूति होना। सो यह तो मोक्षका मार्ग है, इस स्वकीय अभयदानसे तो मोक्ष होता है और अन्य जीवोंको अभयदान देनेसे स्वर्ग होता है। ये दोनों रास्ते हैं, जो तुम्हें रुचे उसमें लगो।

कोई यहां अज्ञानी प्रश्न करता है कि बतलावो प्राण जीवसे अभिन्न है या भिन्न ? यदि कहेंगे कि प्राण जीवसे अभिन्न है तो जैसा जीव हुआ वैसा प्राण हुआ। जीव है अविनाशी, तो प्राण भी अविनाशी हैं, फिर जीवकी तरह कभी प्राणका विनाश नहीं हो सकता। अथवा कहें कि भिन्न है तो प्राणका बध होने पर भी जीवका बध नहीं होता, क्योंकि प्राण जुदा है, जीव जुदा है। जैसे चौकी अलग है, और आलमारी अलग है। चौकीमें आग लग जाय तो अलमारी न जलेगी। तो प्राण हुए भिन्न, जीव हुआ भिन्न। तो प्राणोंका नाश होते ही जीवका नाश हो गया, यह नहीं हो सकता। तब इस प्रकारसे जीव हिंसा नहीं रही। यदि प्राणोंको जीवसे भिन्न माना तो भी हिंसा न हुई और अभिन्न माना तो भी हिंसा नहीं हुई। फिर जीववधमें पाप कैसे हो गया ?

उत्तर देते हैं कि जीवसे प्राण न तो सर्वथा अभिन्न है और न सर्वथा भिन्न है। कथञ्चित् भिन्न हैं, और कथञ्चित् अभिन्न हैं। जैसे अपने प्राणोंके हरे जाने पर दुःखोंकी उत्पति देखी जाती है तो समझलो कि यह प्राण इस जीवसे, व्यवहारसे अभिन्न है और इस ही दुःखोत्पत्तिका नाम हिंसा है, और उस हिंसासे पापका बन्ध होता है क्या ? तो इस दृष्टिसे यह प्राण जीवसे कथञ्चित् अभिन्न हुआ और यदि एकांतसे, जीवसे प्राणोंको भिन्न मान लिया जाय या शरीरको और आत्माको सर्वथा भिन्न मान लिया जाय, तो जैसे दूसरेके शरीरमें सुई चुभे, खेद करे तो अपनेको दुःख नहीं होता, इसी तरह शरीरमें सुई चुभी, खेद हुआ तो इसका भी दुःख न होना चाहिए, पर देखा ऐसा नहीं जाता है। देखा तो जाता है कि शरीर और जीव सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

भैया ! कोई शरीर और जीवके भिन्नपनेका व्याख्यान कर रहा हो और भारी बातें छांट रहा हो तो पीछे बैठा हुआ कोई पीठमें कांटा चुभा दे तो पता पड़ जायगा कि जीव भिन्न है और देह भिन्न है कि नहीं। तो व्यवहारसे जीव और शरीर कथञ्चित् अभिन्न हैं, पर निश्चयदृष्टिसे तो जीव जब गुजर जाता है, चला जाता है, तब शरीर तो साथ नहीं जाता, शरीर तो यहीं पड़ा रहता है। इस दृष्टिमें तो भेद ही है। इसलिए इस प्रश्नका उत्तर आया कि यह प्राण जीवसे कथञ्चित् अभिन्न है, कथञ्चित् भिन्न है।

जीवकी प्राणोंसे भिन्नाभिन्नताका उत्तर सुनकर फिर वह प्रश्नकर्ता बोलता है—तो व्यवहारसे ही ना भिन्न हुआ, तो हिंसा भी व्यवहारसे ही हुई ना और पापका बंध भी व्यवहारसे हुआ। निश्चयसे तो नहीं हुआ, तब फिर उत्तरमें कहते हैं कि तुमने सत्य कहा है। व्यवहार से ही हिंसा हुई, व्यवहारसे ही बंध हुआ, और इसके आगे यह भी समझो कि व्यवहारसे ही नरक आदिकके दुःख भी मिलते हैं। पर जरा अपने दिलसे यह तो बतलावो कि व्यवहारसे होने वाले इस प्रकारके दुःखोंका पाना तुम्हें इष्ट है कि नहीं ? व्यवहारसे ही जो दुःख हो रहे हैं, वे तुम्हें अभीष्ट हैं क्या ? नहीं हैं। तो व्यवहारसे नरक आदिक दुःख होना तुम्हें इष्ट नहीं है तो इस दुःखके होने का कारण है हिंसा। सो हिंसा मत करो। और यदि तुम्हें व्यवहारका दुःख इष्ट है तो हिंसा किए जावो।

भैया ! निश्चय तो आत्माके सहज शुद्धस्वरूपको बताता है। यह जीव त्रस है, स्थावर है, संसारी है, पाप करता है, बंध करता है, फल भोगता है—ये सब व्यवहार हैं, निश्चय नहीं है। मगर है तो व्यवहार, पर ऐसा व्यवहार जिसमें कि दुःख हो रहा है वह तुम्हें अच्छा लगता है क्या ? तो अच्छा तो नहीं लगता। यदि अच्छा नहीं लगता तो हिंसा भी छोड़ दो। व्यवहारसे कर्मबंध भी नहीं होता। निश्चय तो पदार्थके एकत्वस्वरूपको देखता है, तो निश्चयसे न बंध है, न हिंसा है, न प्रवृत्ति है, न फल है; वहां वस्तुका जो सहज स्वरूप है, केवल उसके ही सत् के कारण जो उसका स्वरूप है वह ही है। अब परिणमन भी हो, इसमें तो परिणमन मात्र व्यवहार है। शुद्ध परिणमन है वह भी व्यवहार है। फिर नरकादिक दुःख होना और हिंसाकी प्रवृत्ति होना, पापका बंध होना, यह तो निश्चय हो ही नहीं सकता, सो ठीक है।

व्यवहारसे हिंसा हुई, व्यवहारसे बंध हुआ और व्यवहारसे फल पाया। मगर तुम्हें ऐसे व्यवहारका बंध भला लगता हो तो हिंसा व्यवहार ही खूब किये जावो। पर अच्छा तो नहीं लगता। इसलिए इस व्यवहार हिंसाको न करो। अब यह शिक्षा देते हैं कि मोक्षके मार्गमें रति करो।

मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुसु कंपडि।
सिवपहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥१३०॥

रे मूढ़ जीव ! तू शुद्ध आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य सब विषयादिक जो कि कृत्रिम हैं उनमें मत पड़, उनमें तू भ्रांत मत बन। भूसे का तू खण्डन मत कर। जैसे चावल निकालनेके लिए धानको कूटा जाता है तो धान को कूटनेसे तो लाभ है चावल निकलेंगे, पर जो भूसी है उसके कूटनेसे कुछ

लाभ है क्या ? धानको छोड़कर भूसीको ही कूटा करे यह जैसे उसका व्यर्थ का काम है ? इसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वको छोड़कर अन्य विषयादिक द्वेषों में पड़ना, उपयुक्त होना यह सब भूसेका खण्डन करने की तरह है। तू ये काम न कर, परम पवित्र मोक्षमार्गमें प्रीति कर और मोक्षमार्ग का उद्यमी होकर इन परिजन परिकरके संगको तू शीघ्र ही छोड़ दे अर्थात् तू मोक्षमार्गमें रति कर।

देखलो भैया ! इस लोकमें ध्रुव चीज क्या है ? तेरे लिए तो तेरेको छोड़कर अन्य सभी चीजें अध्रुव हैं। वे सभी चीजें खुदके लिए तो ध्रुव हैं पर मेरे लिए अध्रुव हैं। कोई भी बाह्य पदार्थ ऐसा नहीं है, जो मेरे साथ सदाकाल रहा करे। भगवान् भी मिल जाये तो मिले ही रहें, ऐसा नहीं हो सकता। उनसे भी बिछोह होगा। कैसे कैसे बड़े आत्मा थे वे ? गणधरोंका तीर्थंकरदेवमें कितना अनुराग होगा ? ऐसा अनुराग तो बेटेका पितासे नहीं हो सकता। यहां भी किसी बात पर बेटा बापको मनमें कह सकता है कि जावो, मरो कुछ करो। उनमें कोई बातका बिगाड़ हो सकता है, पर जो शुद्ध पंथमें हैं, जीवन्मुक्त हुए हैं, केवलज्ञानी हुए हैं—ऐसे अरहंत भगवान् और रागद्वेषरहित समताके पुञ्ज, चारों ज्ञानके धारी, पूर्ण द्वादशांगके ज्ञाता ऐसे गणधर देव, इनमें तो कभी अनबन नहीं होती।

भैया ! भगवान्की ओरसे तो कभी अनबन नहीं होती, क्योंकि उनके न राग है और न द्वेष। गणधर देवोंके भी एकांतसे उस पदवीमें प्रभुस्वरूप का अनुराग है तो ऐसे बड़े पुरुषोंका जब संग जुड़ रहा होगा, समवशरण लगा है, गणधर भी बैठे हैं उस समयका दृश्य अद्भुत है और गणधरका भगवान् पर विलक्षण अनुपम अनुराग है, लेकिन उन्हें भी विमुख होना पड़ता है ! लो तीर्थंकर मोक्ष चले गए, अब गणधर अकेले रह गए। तो भगवान् भी मिले तो भी वह सदा नहीं रह सकता। इस कारण मेरे लिए तो मेरे आत्माको छोड़कर बाकी सब पदार्थ अध्रुव हैं, फिर इन्द्रियके विषय और विषयके साधनभूत बाह्यपदार्थ ये सब तो विनाशीक हैं ही।

आचार्यदेव यहां शिक्षा देते हैं कि इस कृत्रिम जमघटको तू बिलकुल भुला दे। इस कृत्रिम जमघटको अपने दिलमें बसाकर व्यर्थ भूसेका खण्डन मत कर। भूसेको कूटनेके फलमें तो कुछ लाभ न मिलेगा। इसी प्रकार तू विषयोंमें मत पड़। विषयोंके साधनेमें तुझे कोई लाभ न मिलेगा। इनको विनश्वर जानकर जो मोक्षका पंथ है, निर्मल है उसमें ही रति कर। मुक्ति का पंथ कहो या मुक्त आत्मा होनेका उपाय कहो, एक ही बात है। यह आत्मा शिवमय है, विशुद्धज्ञान दर्शनस्वभावी है। उसकी प्राप्तिका जो उपाय

है, मार्ग है, वह है अभेदरत्नत्रय।

अभेद रत्नत्रयका अर्थ है अपने सहजस्वरूपमें जैसा चित्प्रकाश मात्र आत्मतत्त्व है बस यही मैं हूं, ऐसा श्रद्धान् होना और इस आत्मतत्त्वका ज्ञान होना, और इस आत्मतत्त्वका अनुभव करते हुए इस ही में रत होना यही है अभेद रत्नत्रय। सो ऐसे रत्नत्रयका अनुष्ठान इस जीवके मुक्त होने का उपाय है, और वह उपाय निर्मल है, वह मोक्ष भी निर्मल है। मल होता है रागद्वेष मोह। किसी जीवमें रागद्वेष मोह ज्यादा पाया जाय तो लोकमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती। सभी लोग उसको बुरी दृष्टिसे देखते हैं। चाहे वह अपने ही घरमें राग करता रहे, अपने ही घरमें मोह बनाए रहे, मगर सम्भवतः दूसरे लोगोंको ऐसा तीव्र मोह रुचता नहीं है। उसकी कदर, उसकी इज्जत दूसरेके मनमें नहीं होती क्योंकि वह मोहसे बहुत मलिन है। तो यह मार्ग भी रागादिकरहित निर्मल है और इस मार्गका फलभूत जो मोक्ष है वह भी रागादिकसे रहित निर्मल है। ऐसे मोक्षमें और मोक्षके मार्ग में हे जीव ! तू प्रीति कर और ऐसे मोक्ष और मोक्षके मार्गका प्रतिपक्षभूत विरोधी जो घर परिजन आदिक हैं, उनको तू शीघ्र छोड़।

अब फिर भी अध्रुव उत्प्रेक्षाका प्रतिपादन करते हैं:—

जोइय सयलुवि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ।
जीविं जंतिं कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ॥१३१॥

हे योगी। ये समस्त दृश्यमान् समागममें आयी हुई सभी चीजें विनश्वर हैं, इनमें अकृत्रिम कोई भी वस्तु नहीं है। अब बतलावो जो कुछ भी दिख रहा है—आदमी हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, चौकी है, कागज है, जिन-जिन चीजोंका जुटाव है उन सब चीजोंमें अकृत्रिम भी कुछ है क्या ? जो पदार्थोंका शुद्धस्वरूप है अर्थात् केवल उसके सत्त्वके कारण उसका जो स्वरूप है उस स्वरूपका किसी अन्य स्वरूपके साथ कुछ व्यवहार भी चलता है क्या ? कुछ भी व्यवहार नहीं चलता। जो कुछ भी यह दीख रहा है, ये दृश्यमान् समस्त पदार्थ कृत्रिम हैं। इनमें अकृत्रिम कोई भी वस्तु नहीं है।

भैया ! कोई भी चीज जीवके साथ नहीं जाती है। और की तो बात क्या ? यह शरीर भी इस जीवके साथ नहीं जाता। इस दृष्टांतको तुम प्रत्यक्ष देखलो। बहुतोंको देखो-जो थे और अब नहीं रहे। कहां चले गए ? देहको एकदम छोड़कर चले गए। छोड़नेके बाद फिर थोड़ी भी खबर न ली। तो ऐसी इन सब चीजों को तू कृत्रिम जान, विनाशीक जान। हे योगी ! देख तू अपने परमात्माका स्वरूप। यह टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वरूप है। तो ये सब एकस्वभावी हैं, परमात्मा जितने हैं अर्थात् निर्मल निर्दोष आत्मा

समस्त एकस्वभावरूप है। जैसे ये जीवमें नाना भेद नजर आ रहे हैं, कोई कीड़ा हैं, कोई पशु है, कोई कैसा ही मनुष्य है, ऐसा कुछ भी भेद उन प्रभुमें नहीं है। ऋषभदेव हों, महावीर हों, चाहे साधारण मुनि मुक्त हो गए हों, केवली होने पर ज्ञानमें, आनन्दमें रंच भी अन्तर नहीं रहता है।

इसी तरह अपने ही बहुतसे पर्दोंको तोड़कर, ज्ञान द्वारा अन्तरमें दृष्टि ले जाकर इस शरीररूप मंदिरमें बसे हुए शुद्ध चैतन्यस्वभावी परमात्मतत्त्वको देखो तो इसमें किसी भी जीवके परमात्मस्वरूपमें और अपने परमात्मस्वरूपमें रंच भी अन्तर नहीं हैं। जैसे मुक्त आत्मावोंमें रंच भी अन्तर नहीं है इसी प्रकार इन जीवोंके उस सहजस्वभावमें रंच भी अन्तर नहीं है, वे हैं अकृत्रिम। क्या समागममें आयी हुई चीजोंमें किसीमें इस अकृत्रिम परमात्मस्वरूपका उपाय भी है? किसी को न देखो, जो कुछ समागम है, झमेला है व्यवहार है, मेलजोल है वह सब कृत्रिम है। सो इन सब कृत्रिम पदार्थोंको विनाशीक जानकर हे जीव! तू इनमें ममत्त्वको मत कर।

अब जरा अपने आपमें ही कृत्रिमताको निरखो। जो मन, वचन, काय हैं ये तीनों ही कृत्रिम हैं, विनाशीक हैं। अकृत्रिम तो यहां कोई चीज नहीं है, सभी चीजें बिलकुल भिन्न क्षेत्रमें हैं। तो आत्माके साथ जिसका सम्बन्ध है ऐसा कुछ विभाव है तो वह तन है, मन है, और वचन है। सो तन, मन, वचनकी जो क्रियाएँ हैं वे सब विनाशीक हैं। और इस तन, मन, वचनके पर्दोंके भीतर छिपा हुआ जो यह चैतन्यस्वरूप है, वह चैतन्यस्वरूप अकृत्रिम है। जैसे अंगुली हिले तो अंगुली टेढ़ी हो, सीधी हो, कैसी ही इसकी स्थिति बन जाये, पर इन सब स्थितियोंके भीतर जो एक मैटर है, स्कंध है वह तो एकस्वरूप है। उसकी स्थितियां नाना प्रकार हो रही हैं।

भैया! नाना स्थितियोंका आधारभूत जो सहजस्वरूप है वह सहज स्वरूप एक समान है। उसको जो देखता है, जानता है उसे ज्ञानी कहते हैं। वही योगी है, वही शरीरके संकटोंसे रहित हो सकता है, तो इन समस्त समागमोंको तू विनश्वर जान। ये कुछ भी अकृत्रिम नहीं हैं, नित्य कुछ नहीं है। एक परमात्मतत्त्व ही नित्य है, सो जो अपने में अभिन्न है और अपने में स्थित रहता है—ऐसा जो पवित्र चैतन्यस्वभाव तत्त्व है उसका आश्रय हो तो कर्म भी कटें, पुण्य रस भी बढ़े, शांति भी मिले, यह तो है करने योग्य सर्वस्व सारभूत काम। और बाकी तो इन चर्मचक्षुवोंको परस्पर कर दुनिया में देखा तो देखने से क्या मिला? ये सारी कृत्रिम चीजें, मायामय चीजें हैं। भैया! जितने भी जीवसमूह दिख रहे हैं ये सब भी मायामय हैं। इन

समस्त जीवोंमें परमार्थ जो चैतन्यस्वभाव है उस स्वभाव पर लोगोंकी कहां दृष्टि है ? इन मायामय स्वरूपों पर ही दृष्टि है ।

भैया ! जैसे इन चर्मचक्षुवोंसे निहारो तो खुदकी पोजीशन, खुदकी इज्जत इसे दिख जाती है, सो जो कुछ भी इन चर्मचक्षुवोंसे दिखता है उसे कृत्रिम जानों, विनाशीक जानों । एक मोटीसी ही बात है कि कर्मसहित भी जीव है । इसके साथ भी मरने पर क्या देह गया है ? दूसरोंको खूब निरखते हैं कि लो यह मर गया । देह यहीं पड़ा रहता है और वह कहीं का कहीं चला जाता है । इस शरीर को जला दिया जाता है । जलाने वाले लोगों को इस शरीरको जलाने पर कुछ करुणा नहीं आती है क्योंकि जीव तो वहां रहा नहीं । जानते हैं ना कि यदि यह यहां पड़ा रहेगा तो सब नगरवासियों को कष्ट पहुंचेगा, दुर्गन्ध होगी, रोग फैल जायेगा । तो लोकव्यवहार और लोकव्यवस्थाके कारण उसे जला देते हैं । रंच भी नहीं अटकते हैं क्योंकि उसमें जीव बिल्कुल नहीं रहा ?

सो भैया ! ऐसा जो हम दूसरोंको देखते हैं तो अपने देहके सम्बन्धमें भी कुछ ख्याल करें कि जिस देह पर हम इतना इतराते हैं, अहंकार करते हैं, पोजीशन बनाते हैं, दुनियांके लोगोंमें अपना महत्त्व जाहिर करते हैं, यह देह इस जीवके साथ नहीं रहेगा । मैं देह नहीं हूं, मैं जीव हूं, मैं जुदा हूं, देह जुदा है । इस देहको देखकर दूसरे लोग कुछ भी भाव बनाएँ । प्रथम तो उन्होंने अपना ही कषाय परिणाम किया । दूसरा यदि बुरा कहता है तो वह देहको ही बुरा कहता है । परमार्थसे मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूं । वह चैतन्य स्वरूप ही अकृत्रिम है और सब तो झमेला है, कृत्रिम हैं, विनाशीक हैं, नष्ट होने वाले हैं । इनमें ममताको तजकर, इनके ममत्त्वको छोड़कर अपने मोक्षमार्गसे प्रेम करो ।

इस प्रकरणमें अध्रुव देहकी बात कहकर मोक्षमार्गकी प्रीति करायी है । देखिये यह जो कर्मबंध होता है, जिन कर्मोंके फलमें जन्म और मरण होता है, ये कर्म मिथ्यात्व, विषय कषाय, भ्रम— इन परिणामोंके कारण ही होता है । शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करो तो सब मार्ग अपने आप मिल जायेंगे । करने का काम एक ही है । जैसे ऐक्सरे यंत्र कपड़ेको छोड़कर, चमड़े को छोड़कर मांसको छोड़कर केवल हड्डीका ही फोटो ले लेता है इसी प्रकार यह दृष्टि हमारी ऐसी तीक्ष्ण बने कि शरीरको, वैभवको, पर्यायको सबको पार करके अन्तरमें रहने वाले उस शुद्ध चित्प्रकाशका ग्रहण करले, ऐसी शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना रहती है तब कर्म नहीं आते । यदि उससे च्युत हैं तो मिथ्यात्त्व आदिक परिणामोंसे जो कर्म उपार्जित होते हैं, उन

कर्मोंको यह देह बनाता है। यह देह भी हमारी नहीं है, ऐसा सब कुछ अध्रुव जानकर देहके ममत्वसे, समस्त विभावोंसे रहित अपना जो शुद्ध आत्म-स्वरूप है उसकी भावना करो।

अब तपस्वीजनोंके प्रति अनित्य भावनाका प्रतिपादन करते हैं—

देउलि देउवि सत्थु गुरु तित्थुवि वेउवि कव्वु।
वकच्छु जि दीसइ कुसुमियउ इंधणु हो सइ सव्वु ॥१३२॥

कहते हैं देव कुल अर्थात् जिनालय और श्री जिनेन्द्रदेव, जैन शास्त्र, दीक्षा देने वाले गुरु, तीर्थस्थान, द्वादशांग, आगम, गद्यपद्यरूप काव्य--ये सभी वस्तुवें जो दिख रही हैं वे सब किसी समय ईंधन हो जायेंगी अर्थात् विमुक्त हो जायेंगी। यह तपस्वी लोगोंके प्रति अनित्य भावना का विचार चल रहा है। साधुजनोंको यह कहा जा रहा है कि जो भी तुम्हारे समागम हैं वे सब कुछ भी न रहेंगे। देवालय क्या चीज है कि निर्दोष परमात्माकी स्थापना जिसमें की है ऐसी प्रतिमाकी रक्षाके लिए जो मंदिर है, प्रासाद है, महल है उसका नाम देवालय है, देवकुल है। यह देवकुल सदा न रहेगा, चाहे कितना ही मजबूत बनाया जाये।

भैया! घर वगैरहकी बात यहां इसलिए नहीं कह रहे हैं कि गृहस्थों को नहीं समझा रहे हैं, मुनियों को समझा रहे हैं क्योंकि मुनियोंका अधिक प्रसंग मंदिरसे, शास्त्रोंसे, तीर्थोंसे रहता है। सो सभी बातें हे मुने! विनाशीक हैं, अथवा ये देवकुल भी नष्ट होने वाले हैं, नष्ट हो जायेंगे और देव जो प्रतिमारूप स्थापित किया गया है, ऐसा देव कोई भी कृत्रिम प्रतिमा ३ हजार वर्ष भी रहे, ५ हजार वर्ष भी रहे; १० हजार वर्ष भी रहे; पर सदा न रह सकेगी अथवा ये चिरकाल तक रहें, किन्तु खुद तो न रहेंगे। सभी तपस्वी जनोंके प्रसंगमें होने वाले पदार्थोंके सम्बन्धमें अध्रुव भावना बतायी जा रही है।

परमात्माकी स्थापना मूर्तिमें हम इसलिए करते हैं कि उस मुद्राके दर्शन करके हम अनन्तज्ञानादिक गुणोंका स्मरण कर सकें और अपनेमें व विश्वमें धर्मकी प्रभावना कर सकें, इसके लिए प्रतिमामें स्थापित किया गया जो देव है अथवा अन्य कोई रागादिकसे परिणत देवताकी प्रतिमा हैं, वे सब भी नष्ट हो जायेंगी। इसी प्रकार शास्त्र, आगम चाहे वे सत्य हों या असत्य हों ये आगम भी सदा न रहेंगे। तपस्वी जनोंके लिए अनित्य भावना की बात कही जा रही है। तपस्वीको प्रतिमा, मंदिर, गुरु, तीर्थ इनसे प्रसंग रहता है, सो कहते हैं कि ये भी सदा रहने वाली चीजें नहीं हैं। प्रथम तो ये जिस रूपमें हैं उस रूपमें ही न कोई रहा है और न कोई रहेगा। बहुत

समय तक फिर भी तुम तो उनसे अलग हो ही जावोगे, इसलिए अपना यथार्थ जो सहजस्वरूप है उसकी संभाल करलो।

यह मंदिर आनेका काम अपने स्वरूपकी संभालके लिए है, गुरु सत्संगका काम, पठन पाठनका काम ये सब काम भी अपने स्वरूपकी संभाल के लिए हैं। इस ध्यानको मत छोड़ो। ऐसे वीतराग निर्विकल्प आत्मतत्त्वके प्रतिपादक जो शास्त्र हैं, आगम हैं, वाणी है, वचन हैं—ये सब भी सदा न रहेंगे। ये जितने समयको मिले हैं, जितने समय तक यहां जीवित हो उतने समय तक व्यवहाररूप प्रसंगोंसे अपना काम निकाल लो, अपने स्वरूप की श्रद्धा करलो और अपने आनन्दका यत्न करलो।

गुरु जो दीक्षाके देने वाला है, जो अज्ञान अंधकारको दूर करनेके लिए सूर्यके समान है। ऐसा महामुनि गुरु भी विनश्वर है, सदा न रहेगा। तुम्हारे पास जितने क्षणका समागम है उतने क्षण तो अपने स्वरूपकी भावना और स्मृतिरूप कार्य निकाल लो। ये गुरुजन देवोंकी तरह हितके निमित्तभूत हैं। देव पूर्ण रागद्वेषसे रहित होते हैं और उनका शुद्ध विकास होता है और गुरुजन जो कि वास्तविक अपनी कल्याणदृष्टि रखते हैं, परमार्थ आत्मस्वरूप का स्पर्श करते हैं, उस ओर अपना चित्त बनाते हैं, ज्ञान ध्यानमें जिनका उपयोग रहता है, जो केवल आत्महितकी ही भावना रखते हैं, ऐसे गुरुजन चूँकि रागद्वेष रहित हैं, अपनी वर्तमान परिणतियोंके अनुकूल उन्हें बुद्धिपूर्वक किसी विषयसाधना या स्वार्थपूर्तिका राग नहीं है, अतः उनका संग हमें सन्मार्गसे हटाकर कुपथमें ले जाने की शंका करने वाला नहीं है।

मिथ्यात्व रागादिक महान् अज्ञान अंधकारका घमंड जिसने चूर किया है, केवल ज्ञानादिक गुणोंसे समृद्ध ऐसा जो शुद्ध परमात्मस्वरूप है उसकी जिसके भक्ति लगी रहती है, इस परमात्मतत्त्वका आवरण करने वाले विषयकषायोंका जिसने विदारण कर दिया है—ऐसे गुरुजन भी सदा न रहेंगे। यह तपस्वियोंकी बात इस दोहेमें कही जा रही है कि जो तुम्हें योग्य समागम मिले हैं, जिनमें तुम्हारा चित्त पवित्र रहता है, ये समागम भी सदा न रहेंगे। ऐसा जान कर हे साधु पुरुष! अपने आत्मकल्याणके लक्ष्यकी सिद्धि कर।

यह संसारसे तिरनेके उपायभूत जो तीर्थ है, अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना है, उस तीर्थस्वरूपमें जो लीन हैं—ऐसे परम तपस्वीजनोंका जो निवासस्थान है वह भी तीर्थ कहलाता है। कोईसा भी तीर्थ हो, वह तीर्थ इसलिए है कि उस जगह पर साधुवोंने निवास किया, तपस्वियोंने वहां

से निर्वाण पाया। तो परम तपस्वीजनोंका जो आवास स्थान है वह तीर्थ भी सदा नहीं रहेगा। वह रहेगा, रहे, पर तुम तो सदा न रहोगे। जो समागम पाया है इन समागमों को पाकर अपने आत्म जागृतिरूप कार्यको करलो। किसी भी परपदार्थकी जो दृष्टि है वह तुम्हारे शुद्धविकासका बाधक है। और इसीलिए निर्णयकी बात तो ठीक है, निर्णय कर लीजिए कि किसी जीवका किस प्रसंगमें, किस निमित्तसे कैसा परिणाम बनता है—ऐसा निर्णय करलो। एक बार निर्णय कर चुकनेके बाद अपने जीवनमें ऐसी ही परपदार्थों की तू दृष्टि बनाए रहेगा और इन्हीं उलझनोंमें, इन्हीं स्थितियोंमें, इन्हीं चिंतावोंमें अपनी अन्तर्दृष्टिको छोड़कर बाह्य परद्रव्योंकी दृष्टि रखेगा तो तू उससे सन्मार्ग ज्ञान प्रकाशको न प्राप्त कर सकेगा। काम अन्तरमें ऐसा करो कि जिससे तुम स्वानुभव करनेके पात्र बने रहो। और किसी क्षण स्वानुभव प्राप्त कर सको।

भैया! स्वानुभवके कालमें किसी परपदार्थकी दृष्टि ज्ञानी जीवको नहीं रहा करती है। जो स्वानुभूतिका पवित्र अवसर है उस अवसरमें इस ज्ञानी जीवको केवल ज्ञानस्वरूपका ही पता रहता है, लक्ष्य रहता है, ऐसी स्वानुभूति पाना अपना उद्देश्य है। तो अपने आपको भी स्वाधीन, परके आलम्बन से रहित, ज्ञानप्रकाशको छू सकने वाली दृष्टि बनानेके यत्नमें रहना चाहिए। तो निश्चय तीर्थ अपने आत्माके शुद्धस्वरूपकी भावना है और व्यवहारसे उस शुद्ध स्वरूपमें रत होने वाले परम तपस्वीजनोंका जो आवास स्थान है वह भी तीर्थ है। यह तीर्थ तेरे लिए सदा न रहेगा अथवा ये मिथ्या तीर्थसमूह भी सदा न रहेंगे।

यहां अध्रुव भावनाकी बात चल रही है। तपस्वीजन समस्त समागमों को अध्रुव और भिन्न पहिचान कर अपने आपके ध्रुव अभिन्न शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें रत होना चाहते हैं। हे योगीजन! तुम जिन बातोंमें रमकर, जिन बातों को करके संतोष करते हो, मौज मानते हो, अपनेको कृतकृत्य समझते हो उन वस्तुवोंकी चर्चा चल रही है कि ये समस्त समागम अध्रुव हैं, विनाशीक हैं, इनमें रति मत करो, इनको करते हुए चैन मत मानो।

काव्य रचना, साहित्य बनाना, गद्य बनाना, पद्य आदिक रूपसे वर्णन करना चाहे वह शुद्धपदार्थोंका ही वर्णन हो, कल्याणकारी चैतन्यज्ञानका ही वर्णन क्यों न हो, पर ये सब भी साथ न रहेंगे। अथवा लोकमें प्रसिद्ध जो नाना प्रकारके कथा काव्य हैं, ये भी भिन्न हैं, सदा न रहेंगे। ऐसा जानकर इनके बनानेमें, रचनेमें, बोलनेमें, समझानेमें अपनी इतिश्री न कर। ये

सब तुम्हें विषयकषायोंसे बचानेके लिए आलम्बन मात्र हैं। यह निश्चय कर्तव्य नहीं है।

इसी प्रकार और भी जो कुछ दीख रहा है—ये जंगल, ये वृक्षराजके समस्त समूह, ये भी जो कुछ दीख रहे हैं, फले फूले, हरे भरे, रंगेचँगे ये सब किसी समय कालरूपी अग्निका ईंधन बनेंगे, विनाशको प्राप्त होंगे, बिछुड़ जायेंगे। तपस्वीजनोंसे कह रहे हैं कि जहां तुम बैठे हो--जानते हो ना कि ये समस्त जो वृक्षसमूह हैं, यह जंगल जो दीख रहा है, ये सब किसी समय नष्ट हो जायेंगे। ये जो सभी चीजें दीख रही हैं वे क्या हैं? लोग कहते हैं कि ये बड़े प्राकृतिक दृश्य हैं। कोई अच्छा पहाड़ हो, सुहावनी नदी बह रही हो, सुन्दर दृश्य हो तो लोग कहते हैं कि देखो कितना सुन्दर कुदरत का खेल है। वह कुदरत क्या चीज है? उस कुदरतका क्या स्वरूप है? प्रकृतिका कोई स्वरूप नहीं है। कहां बसती है कुदरत? किसका नाम है कुदरत? कुदरत कोई अलगसे चीज नहीं है। कुदरत क्या है सो बतावेंगे। यह दृश्यमान् सब न रहेगा, इनमें प्रीति मत कर।

कर्मोंके उदयसे जो जीवके शरीरकी रचना होती है वे कर्म नाना विचित्र हैं, उनके उदयमें नाना प्रकारके ये शरीर रचे जा रहे हैं। देखा होगा कैसे सुन्दर वृक्ष, कैसी सुन्दर लताएँ, कैसे सुन्दर फूल, एक ही फूलमें पास पासमें ५-७ रंग हैं और उनमें जितनी पंखुड़ियां हैं वे भी कोई किसी रंग की, कोई किसी रंगकी, कैसी विचित्र विचित्र बनावटकी पंखुड़ियां हैं, विचित्र, विचित्र प्रकारकी पत्तियां हैं, कैसे-कैसे पत्थर हैं, कैसी कैसी चट्टानें हैं---ये सब कर्मोंके उदयसे ही होते हैं। पत्थर भी जीव हैं, वृक्ष भी जीव हैं और अपने-अपने बंधे हुए कर्मोंके उदयसे ऐसी उनकी नाना विचित्र रचनाएँ होती हैं तो हुआ क्या कि कर्मोंका नाम प्रकृति है। जैसे ज्ञानावरणकी ५ प्रकृति हैं, दर्शनावरणकी ६ प्रकृति हैं। तो प्रकृति कहो या कर्म कहो, एक ही बात है। प्रकृतिके उदयसे होने वाली बातोंको प्रकृति कहते हैं। यह दृश्य कैसा प्राकृतिक है---इसका अर्थ यह है कि कैसी विचित्र कर्मोंकी उत्पत्तिसे यह रचना हुई है, उसीका नाम कुदरत है। प्रकृतिके खेलका नाम, कर्मोंके परिणामका नाम, कर्मोंकी प्रकृतिसे होने वाली देह रचनाका नाम प्राकृतिकता है।

तो ये जो समस्त वृक्षसमूह हैं और जो-जो तुम्हें दिखते हैं ये सब कुछ किसी न किसी समय ईंधन बनेंगे, विनष्ट होंगे। ऐसी अध्रुव अनुपेक्षा का वर्णन करके तपस्वीजनोंको यह शिक्षा देते हैं कि इन पंचेन्द्रियके विषयोंमें मोह न करना चाहिए। यहां धर्ममें प्रवेश करने वाले प्राथमिक लोगों को,

व्यवहारजनोंको यह धर्मतीर्थमें लगाने के लिए निमित्त मंदिर हैं, प्रतिमा है, तीर्थ है, गुरु है, आगम है, काव्य है। ये सब प्राथमिक जनोंको अर्थात् जिसके ज्ञानमें ज्ञानमय परिणति नहीं हुई है, जो परमार्थके अनुभवसे रहित हैं, ऐसे पुरुषको ये सब निमित्तरूप हैं तो भी इन निमित्तोंके प्रसंगमें रहकर भी निमित्तकी भावना नहीं करना है, किन्तु शुद्ध आत्माकी भावना करना है।

भैया ! जब देवप्रतिमाके समक्ष दर्शन करने खड़े होते हैं, उसकी मुद्राको देखते हैं, उस समय कुछ यह भाव नहीं करना है कि हे देव ! तुम्हारे निमित्तसे हमारा उद्धार होगा। तुम हमारा उद्धार कर दो—इस ओर भाव नहीं बनाना है। वह तो प्रसंग ही तुम पा रहे हो कि निमित्त बन रहे हैं, उस प्रसगमें रहकर तुम्हें उनके स्वरूपकी भावना करना है और उस स्वरूपको जानकर अपने स्वरूपकी भावना करना है। इसलिए अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करनी चाहिए।

अब यह प्रकट करते हैं कि एक निज शुद्ध आत्मद्रव्यके अतिरिक्त अन्य समस्त समागम सामग्री अध्रुव हैं।

एक्कु जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणुवि एहु असेसु।
पुढविहि णिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु ।।१३३।।

एक शुद्ध जीव द्रव्यरूप परमब्रह्मको छोड़कर, एक इस चैतन्य-स्वभावात्मक पवित्र ज्योतिको छोड़कर इस लोकमें जो कुछ भी समस्तपदार्थों की रचना है, वह सब विनाशीक है। इस विशेष बातको तू जान।

लोकमें जितना भी जीवसमूह है, इस जीवसमूह को शुद्ध संग्रहकी दृष्टिसे देखें तो इस जीवका अपने सत्त्वके कारण जो सहज शुद्धस्वरूप है उस स्वरूपको नजरमें लेकर देखें तो समस्त जीवराशि एक है। जैसे जब उपयोगमें कोई चीज बड़ी रुचिसे बसती है तो उसके लिए अन्य चीजें कुछ नहीं हैं--केवल वही वही है। इसी प्रकार जब उपयोगमें एक चतन्यस्वभाव का स्वरूप बसता है तब उस उपयोगीके लिए तो वही-वही है। अन्य भिन्न भिन्न व्यक्तियां कहीं कुछ नजर नहीं आतीं। उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि लें, फिर बाहरमें भी कुछ निरखें तो ये समस्त जीवराशि एक है।

जैसे नाना वृक्षोंसे परिपूर्ण बनमें जब नाना जातिके वृक्षोंको देखेंगे तो वे भिन्न-भिन्न ध्यानमें आयेंगे—यह भी पेड़ है, यह भी पेड़ है—और जब समस्त वृक्षसमूहको उस जंगलको शुद्ध संग्रहनयसे देखेंगे—वृक्ष है, वनस्पति है या सर्वका समूहरूप जो कुछ एक जातिका है उस रूपको देखेंगे तो ये समस्त वक्ष एक बनरूपमें नजर आयेंगे। इसी प्रकार इन समष्त जीवसमूहों

को जब हम एक चैतन्यस्वरूपसे देखेंगे तो एक चैतन्यस्वरूप नजर आयेगा।

और कदाचित् हम इन सब पदार्थोंको जिसमें वृक्ष भी शामिल हैं, जीव भी शामिल हैं, पुद्गल भी शामिल हैं, सारा विश्व एक अस्तित्त्वकी दृष्टिसे देखेंगे कि यह है द्रव्य-- द्रव्यत्वकी दृष्टिसे दीखेगा। हां वे पदार्थ हैं, इस नातेसे सारा विश्व एक सत्स्वरूप ध्यानमें आयेगा। इस ही शुद्ध संग्रहनयकी मुख्यतासे ब्रह्माद्वैतवाद अथवा सब कुछ एक ब्रह्मस्वरूप है, ये सब चीजें एक होती हैं, पर एक शुद्ध संग्रहनयसे ही हम जो कुछ देखें-- एतावन्मात्र स्वरूप तो तत्त्व नहीं है, वे सब अपनी-अपनी अर्थ क्रियाएं करने वाले हैं, भिन्न-भिन्न स्वरूप रखते हैं, उन सबको एक साधारण गुणकी अपेक्षा एक जातिमें किया गया है।

अद्वैतदृष्टिमें कुछ शांतिकी बात मालूम पड़ती है। जब हम सब जीवोंको उनके पर्यायभेदसे भेदरूप न निरखकर केवल अभेदरूपसे देखते हैं तो वहां शान्ति प्रकट होती हुई नजर आती है। जब हम इन जीवोंको इनके देहके भेदसे भिन्न-भिन्नरूपसे देखते हैं तब यह शान्ति स्खलित हो जाती है। सो शान्तिके लिए मार्ग तो यही उत्तम है कि समस्त जीवोंको एक राशिमें देखना, एक स्वरूपमें देखना, केवल वस्तुके स्वरूपास्तित्त्वको देखना। सो यद्यपि यह मार्ग शान्तिके लिए उत्तम है, फिर भी पदार्थोंका यथार्थ निर्णय न करके जैसा जो चैतन्यसत् है वैसा ही उनको न जानकर, जैसा कि वे भिन्न-भिन्न अपने स्वरूपमात्र हैं, न पहिचानें तो केवल एक अद्वैत ही तत्त्व है-- सीधा यह ही दृष्टिमें लें तो चूंकि अज्ञानांधकाररूप यह होता, सो इसके अन्तरमें जिज्ञासा, उत्सुकता या जिसे कहते हैं फिट नहीं बैठ सका, अद्वैत की स्थितिमें स्थिर चित्त न हो सका, ये बातें रह जायेंगी।

इस कारणसे पदार्थोंका यथार्थज्ञान करना आवश्यक है, पर उन पदार्थोंको भिन्न-भिन्न रूपसे अपने दिमागमें बनाए रहनेका काम शान्तिके लिए नहीं है। जैसे निमित्तका, उपादानका, सर्वद्रव्योंका ठीक-ठीक निर्णय करना आवश्यक है, पर अपने हितके लिए निमित्तकी चर्चा, परकी दृष्टि, इन इन ही रूप उपयोग बनाए रहना हमारी शान्तिके लिए साधक नहीं है। इसी प्रकार जान तो जावो सबको कि अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गल हैं। सब कुछ जान लेने पर, जान चुकनेके बाद करने योग्य काम यह है कि उन सब भिन्न-भिन्न पदार्थोंको भेदरूपमें न लेकर केवल एक अपने अभेदस्वरूपमें पहुंचनेका यत्न करें।

सब जीवोंको एक साधारण सामान्य स्वरूपमें देखें तो ये समस्त जीव द्रव्य शुद्ध संग्रहनयसे एक रूप हैं और इतना ही क्यों, यह समस्त

विश्व भी शुद्ध संग्रहनयसे एक है। जो भी इस लोकमें पदार्थोंकी रचना है वह सब क्षणभंगुर है। भेदद्दष्टिसे जो तुम्हें नजर आता हो वह सब क्षणभंगुर है और स्वरूपद्दष्टिसे जो परमार्थतत्त्व जाना हो वही तेरे लिए ध्रुव है— ऐसा जानकर हे प्रभाकर भट्ट ! यह शिक्षा लो कि तेरे ज्ञान दर्शन स्वभावमय परमब्रह्मको छोड़कर, मेरे शुद्ध चैतन्य प्रकाशको छोड़कर अन्य कुछ पंचइन्द्रियके विषयभूत जो समस्त समागम हैं, ये विनश्वर हैं। इन समागमोंमें प्रीति करना केवल आकुलतावोंका ही कारण है। ऐसा तपस्वीजनोंके लिए अध्रुव अनुप्रेक्षाकी बात चल रही है। समस्त द्रव्योंको अध्रुव समझो।

भैया ! अनित्य भावना भानेमें, केवल अनित्य ही अनित्य समझनेसे लाभ नहीं मिलता, किन्तु नित्य क्या है ? यह द्दष्टिमें रखकर फिर इन पदार्थोंको अनित्य समझनेसे लाभ मिलता है। जैसे यह जानते जायें कि यह मकान मिटेगा, धन मिटेगा, शरीर मिट जायेगा, जो है सो मिट जायेगा— ऐसा सुन कर तो इस अनित्यकी भावनासे और घबड़ा जायेंगे। मकान मिट जायगा, देह मिट जायगी, पैसा मिट जायगा तो इससे तो आकुलता ही बढ़ने लगेगी, पर अनित्य भावनाके बीचमें ज्ञान यह भरा हुआ है कि तुम यह जानों कि जितना जो कुछ दिखता है जिस पर्यायरूपमें वे सब विनाशीक है, किन्तु इन सबके अन्तर परमार्थभूत जो जीवतत्त्व है, आत्मतत्त्व है वह अविनाशी है और बाहरके अनात्मतत्त्वोंको इष्ट करनेसे मिलेगा क्या ? अपने आपका जो शुद्ध जीवस्वरूप है वह ध्रुव है। उस ध्रुवको इस द्दष्टिमें लेकर, उस ध्रुवकी भावना करके इन सब अध्रुव पदार्थोंकी प्रीति छोड़नी चाहिए।

अब सब चीजोंको अध्रुव जानकर धन और जवानीमें तृष्णा न करनी चाहिए— इस बातको बताते हैं।

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ।
ते कारणि वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ १३४ ॥

कहते हैं कि जो पदार्थ सूर्यके उदय होने पर देखा गया था वह पदार्थ अब सूर्यके अस्त होनेके समय नहीं देखा जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है। इस कारण तू धर्मका पालन कर। धन और जवानीकी स्थितिमें तू क्यों तृष्णा कर रहा है ? धन और यौवन या धन और शरीर— इन दोनोंकी तृष्णा बहुत बड़ी तृष्णा होती है। धन चाहे जितना आता जाय, पर मन नहीं मानता है। हजार हों तो लाख, लाख हों तो करोड़, इस तरहसे इस धनकी तृष्णा लगी ही रहती है। बूढ़े लोगोंको देखो— शरीर बूढ़ा हो गया, फिर भी शरीरकी तृष्णा नहीं मिटती है। उस शरीरको बार बार देखेंगे, उससे ही राग करेंगे। तो तू धन और यौवनमें तृष्णा न कर।

एक बहुत बड़ा प्रसिद्ध कथानक है कि जब रामचन्द्र भगवान्‌को राजगद्दी दी जा रही थी तो सारा कार्य बन गया था। राजगद्दी होने को थी, पर अचानक ही दूसरा दृश्य आ गया कि राम वनको जा रहे हैं। अब बतलावो कि सुबह क्या बात, दोपहर को क्या बात, शामको क्या बात? घर गृहस्थी में देखलो मानलो, सुबह किसीके यहां बच्चा हुआ तो ढोल बज रहा है, चहल पहल है, इतने में ही उसकी तबियत खराब हो गई और दोपहरको बच्चा मर गया या जच्चा मर गयी, सभी लोग दुःखी हैं, बेचैन हो रहे हैं। तो सुबह क्या था, अब दोपहर को क्या हो गया? तो बाह्यपदार्थोंमें तृष्णा न करनी चाहिए। धर्म ही करने योग्य है।

धर्म दो प्रकारका है—सागारधर्म और अनागार धर्म याने श्रावकोंका धर्म और मुनियोंका धर्म। धर्ममें बुद्धि लगावो, धन और यौवनमें तृष्णा न करनी चाहिए। गृहस्थों को धनमें तृष्णा न करनी चाहिए, तब क्या करना चाहिए? जो भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रयके आराधक हैं, ज्ञानी संत पुरुष हैं उनको आहारादि चार प्रकारका दान देना चाहिए और नहीं तो इससे भी बड़ा दान करना हो तो खुद समस्त परिग्रहोंका त्याग करके निर्विकल्प समाधिमें स्थित होना चाहिए। गृहस्थोंके तो धन बिना काम नहीं चलता। सो धन कमायें, परिवारका गुजारा करना पड़े, करें, पर दूसरोंकी सेवामें पैसा न निकले तो वह तृष्णा ही है। धर्मकार्योंमें धन खर्च हो तो समझो कि तृष्णा नहीं है। नामवरी करने में, बड़ा कहलवाने में, महल बनवानेमें पुत्रोंको पढ़ाने लिखानेमें, इन बातोंमें ही यदि धन खर्च किया जाये, परसेवा के लिए न हो तो समझो कि तृष्णा है। धन तो परसेवाके लिए, परोपकारके लिए खर्च करना चाहिए। और इससे ऊँचा दानी बनना हो तो समस्त परिग्रहोंका त्याग करके निर्विकल्प समाधिमें स्थित होना चाहिए।

जवानी की भी तृष्णा न करनी चाहिए। जवान अवस्थामें जवानीके कारण उत्पन्न हुए जो विषय राग हैं उनको छोड़कर विषयोंके प्रतिपक्षभूत वीतराग परमानंद एकस्वभावी जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, उसमें ठहर कर अपने परमात्मतत्त्व की निरन्तर भावना करनी चाहिए। अब यह बतलाते हैं कि जो धर्मसे रहित हैं ऐसे पुरुषोंको मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ है।

धम्मुण संचिउ तउ ण किउ रुक्खें चम्ममयेण।
खज्जिवि जरउद्देहियए णरइ पडिव्वउ तेण ॥१३५॥

जिसने मनुष्यके शरीररूपी चमड़े वाले वृक्षको पाकर धर्म नहीं किया, तप नहीं किया, उसका शरीर बुढ़ापारूपी दीमकके कीड़ोंसे खाया जायेगा

और उससे फिर मरण करके नरकमें जाना पड़ेगा। जैसे वृक्ष खड़ा है और उस वृक्षमें दीमक लग जाये तो खड़े-खड़े ही ठूठ होकर, सूखकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यह जो शरीर है, यह भी जरासे जर्जरित होकर नष्ट हो जाता है।

मनुष्य शरीर भी वृक्ष है। कैसा वृक्ष है? उल्टा वृक्ष है। उल्टा कैसा कि वृक्षकी जड़ें तो होती हैं नीचे और शाखाएँ ऊपर होती हैं, पर मनुष्यके जड़ें तो हैं ऊपर और शाखायें हैं नीचे। ये जो दो पैर लगे हैं ये शाखायें ही तो हैं। जड़ तो एक नहीं होती। जड़के बाद फिर उसमें साखायें फूटती हैं— दो, तीन, चार, छः, कितनी ही फूटें। तो वृक्षमें जड़ें तो होती हैं नीचे और शाखायें ऊपर होती हैं। पर मनुष्यका शरीर ऐसा अनोखा वृक्ष है कि इसकी जड़ें तो हैं ऊपर, जो सिर है वह जड़ है। जैसे पेड़के जड़ें होती हैं वैसे ही मनुष्यके यह जड़ है। फर्क इतना है कि पेड़की जड़ नीचे होती है और मनुष्यकी जड़ ऊपर होती है। पेड़ अपनी जड़ोंसे खुराक लेते हैं तो मनुष्य की जड़ है सिर, तो यह मनुष्य सिरके मुँह नाक आदिसे अपनी खुराक लेता है। वृक्षकी शाखाएँ तो ऊपरको आती हैं और मनुष्यकी साखाएँ नीचेको चली गई। ये जो दो पैर बढ़ गए हैं, ये मनुष्यरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं।

तो जैसे वृक्ष खड़ा हो और उसमें दीमक लग जाये तो वह वृक्ष खड़ा ही खड़ा सूख जाता है। इसी तरह इस चमड़े वाले पेड़में, मनुष्य शरीरमें, इस मनुष्य जन्मको पाकर यदि धर्म नहीं किया, तप नहीं किया तो बुढ़ापे का दीपक लग जायेगा। रोगका दीमक, बुढ़ापाका दीमक लग जायेगा जो इस शरीरको खा जायेगा और मनुष्य शरीर नरकमें गिर जायेगा, जिसने धर्मसंचय नहीं किया। गृहस्थ होकर गृहस्थावस्थामें दान करना, शीलसे रहना, पूजा करना, विवाह करना आदि सम्यक्त्वपूर्वक धर्म न किया अथवा और क्रमसे बढ़ो तो पहिली दूसरी प्रतिमा आदि ११ प्रकारकी प्रतिमारूप श्रावक धर्मका पालन नहीं किया अथवा तपश्चरण नहीं किया, समस्त द्रव्यों की इच्छावोंका निरोध करके, अनशन आदि १२ प्रकारकी तपस्याएँ करके अपने शुद्ध आत्माके ध्यानमें न ठहरा, अपने शुद्धस्वरूपकी भावना न की तो क्या हुआ कि बुढ़ापारूपी दीमकके द्वारा खाया गया और नरकमें गया।

इस दोहेसे यह शिक्षा लेना है कि गृहस्थ हो तो उसे अपना श्रावक धर्म पालना चाहिए। श्रावकका जो धर्म है वह भेदरत्नत्रयरूप है। पढ़ना, पूजन, वंदन जो ६ कर्म बताए गए हैं उन रूप है। सो भेदरत्नत्रयरूप धर्म करनेको लक्ष्यमें रखें। धर्म गृहस्थका हो अथवा मुनिका हो, जितना भी धर्म

होता है वास्तविक मायनेमें वह आत्मस्वभावकी दृष्टिसे, आश्रयसे होता है। गृहस्थोंकी परिस्थिति बहुत जटिल होती है, इसलिए गृहस्थोंके धर्मका बहुत आलम्बन बताया गया है। साधुके धर्मको बाह्यमें बहुत आलम्बन नहीं बताया गया है। साधुजनोंको मंदिर जाना, दर्शन करना आदिक आवश्यक नहीं है, मिले तो करें भक्ति, नहीं तो न करें, पर गृहस्थोंको जाना आवश्यक है। दर्शन, पूजन, भक्ति करना आदि आलम्बन गृहस्थोंको आवश्यक हैं।

साधुजनोंको विविध आलम्बन आवश्यक नहीं हैं। कारण यह है कि गृहस्थोंकी चर्या संग, आरम्भ परिग्रहसे बहुत व्यस्त हो गए हैं, बहुत जगह उनका चित्त डोलता रहता है तब श्रावकोंको अपने उपयोगकी स्थिरताके लिए बहुत आलम्बन चाहिए। सो करें आलम्बन और उन व्यवहारधर्मोंका विधिवत् पालन करें, पर उद्देश्य न भूल जायें। धर्ममें जैसा साधु हुआ तैसा ही गृहस्थ हुआ। ऐसा नहीं है कि गृहस्थोंके मन, वचन, कायकी चेष्टासे धर्म होता हो और मुनिके आत्माके समाधानसे धर्म होता हो। धर्म होने की सब जगह एक ही पद्धति है। धर्म यह नहीं देखता है कि यह गृहस्थ है तो इसके ढ़ोल बजानेसे ही अपन धर्ममें विराज जायें और यह साधु है तो बहुत ऊँची यह सामायिक करे तब इसके विराजें। धर्म नाम तो आत्माके स्वभाव का है। जहां आत्माकी शुद्धपरिणति हो वहां ही धर्म है।

वह शुद्ध परिणति तीन प्रकारसे होती है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। सो जितने अंशमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रहता है गृहस्थ के उतने अंशमें धर्म है। तो इस शुद्ध आत्मस्वरूपका उपादेय मानकर भेदरूप रत्नत्रयात्मक श्रावक धर्म करना चाहिए, और मुनिजनोंको निश्चयरत्नत्रयमें स्थित होकर व्यावहारिक रत्नत्रयके बलसे विशिष्ट तपस्या करनी चाहिए। यदि गृहस्थोंने अथवा जनोंने अपने योग्य धर्म कर्तव्य न किया तो बड़ी दुर्लभ परम्परासे प्राप्त हुआ यह मनुष्यजन्म निष्फल हो जायेगा। अब यह शिक्षा देते हैं कि हे जीव ! तू जिनेश्वरके पदमें परम भक्ति कर।

अरि जिय जिणपइभत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि।
तिं वप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारि ॥१३६॥

हे भव्य जीव ! तू जिनेन्द्रके चरणोंकी भक्तिको कर। संसारी सुखके निमित्त कारणभूत अपने कुटुम्ब जनोंको त्यागो। अन्यकी तो बात ही क्या है. ऐसे महास्नेहरूपी बापसे भी क्या प्रयोजन है जो संसारमें इस जीवको गिरा दे। जिनेन्द्रके चरणोंमें भक्ति करो अथवा जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत जो धर्म है उस धर्मकी भक्ति करो। भक्ति करता कौन है, जिसको आत्मस्वरूपसे रुचि हुई। संसारके संकटोंसे टालनेमें समर्थ यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश का आश्रय

है, ऐसा जिसकी बुद्धिमें दृढ़ निर्णय होता है वह शुद्ध आत्मतत्त्वकी रुचिके कारण इस ओर ऐसा अनुराग बनाता है कि उस स्वरूपका गुणगान, स्तवन करना ही है। जिसे ज्ञान प्रकट हुआ है वह क्या मोही जनोंका गुणानुराग गायेगा? मोही जनोंका अनुराग गाने वाले मोही पुरुष ही होते हैं।

हे जीव! तू जिनपदमें भक्ति कर। गुणानुराग करने वाले वचनोंको प्रयोग कर। जिनेश्वर द्वारा बताये गए श्रीधर्ममें रतिको कर और स्वजन, गौत्र कुल जो संसारके सुखोंका सहकारी कारण है उसको तू छोड़, क्योंकि स्नेही बापके द्वारा याने बापसे भी काम न निकलेगा, क्योंकि ये सब संसारी सुखके कारणभूत जो परिजन हैं, परिकर हैं ये संसारमें गिराते हैं। भैया! घर गृहस्थी उसकी ही वास्तविक मायनेमें है जहां धर्मका निवास हो, भेद विज्ञानकी चर्चा हो, पाये हुए समागममें ममता न हो। ये मिले हैं तो ममता करते हो, इसलिए रहते हैं क्या? इनसे ममता न करो तो क्या ये भग जायेंगे? ठीक है, मिले हैं, उनके ज्ञाता द्रष्टा रहो। हैं, जान लिया।

भैया! धर्मका विनाश करके धनका संचय करना भी विपत्ति है। धन कोई सुख शांतिका कारण नहीं है। धर्मकी रक्षा करते हुए रहो और फिर जो आए उसकी सही व्यवस्था बनाओ। हे आत्मन्! अनादि कालसे दुर्लभ यह वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत रागद्वेषरहित शुद्ध जीवके परिणमनरूप धर्म से तू प्रेम कर। निश्चयसे धर्म शुद्धोपयोग ही है। सबसे निराले शुद्ध केवलज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपके स्वरूपको देखना सो निश्चयसे धर्म है। और व्यवहारसे गृहस्थकी अपेक्षा षट् आवश्यकतावोंमें दान पूजारूप शुभोपयोग धर्म है। सो उसमें रति कर, और धर्मसे प्रतिकुल जो कोई कुटुम्बी भी हो, स्वगोत्रज हो तो भी उस मनुष्यको छोड़ दो। और अपने धर्मके निर्वाहके अनुकूल यदि अन्य कोई भाई हो, चाहे वह पुरुष गौत्रज न हो, अपना कुटुम्बी न हो, उसको भी स्वीकार करो, यदि उससे धर्ममें सहायता मिलती है तो। और धर्मका घात होता हो तो अपना गोत्रज हो तो भी उसे छोड़ो।

इस दोहेसे यह शिक्षा समझनी है कि विषय सुखोंके वास्ते यह जीव जैसा अनुराग करता है वैसा यदि जिनधर्ममें अनुराग करे, अपने धर्म पालनमें रुचि बनाए तो संसारमें न गिरेगा। कहा भी है गृहस्थोंको कि विषयों के कारण यह जीव बारम्बार जैसा प्रेम करता है वैसा जिनधर्मसे प्रीति करे तो इस संसारमें भ्रमण न करेगा। अपने आपकी बात किसे नहीं मालूम कि किसकी किसमें रुचि है? जिसकी जिसमें रुचि है वह उसी ओर ही वेगपूर्वक आसक्त रहता है, वहां ही दृष्टि रहती है। तो जिस किसी भी परद्रव्यमें तीव्र अनुराग बसता है, ऐसी तीव्र रुचि धर्मपालनमें हो तो बताते हैं कि वह

संसारमें फिर नहीं गिर सकेगा। अब जिस परिणामके द्वारा जिस जीवने चित्तकी विशुद्धि करके तपश्चरण नहीं किया, उसने अपने आपको ही ठग लिया, ऐसे अभिप्रायको रखकर इस दोहेमें कहते हैं।

जेण ण चिण्णउ तवयरणु णिम्मलु चित्तु करेवि।
अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस जम्मु लहेवि॥ १३७॥

जिसने मनुष्यजन्म पाकर भी तपश्चरण नहीं किया, निर्मल चित्त नहीं किया, उसने अपनी आत्माको ही ठगा। कर्मसिद्धान्तकी श्रद्धा इस जीवको पापसे बचाती है। मेरे साथ मेरेको दण्ड देने वाला सदा लगा हुआ है। घरमें होऊं, मन्दिरमें होऊं, जंगलमें होऊं, कहीं भी होऊं ऐसा जागरूक है। यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी जहां जीवके परिणामोंमें अशुद्धता आयी कि उसका निमित्त पाकर कर्मोंका बन्ध उसी समय हो जाता है। कहां जाकर यह छुपेगा? जैसे जब पापका उदय आता है तो यह जीव कहां छिपेगा? कहां जान बचायेगा? वह जहां होगा— चाहे किलेके अन्दर बैठा हो, चाहे गद्दोंमें हो, जब उदय आयेगा, चित्तमें भ्रमेगा, रागका मद बढ़ेगा और आकुलता होगी, व्याधि हो जायेंगी, अनिष्ट संयोग होगा, इष्ट वियोग होगा। इसी तरहकी संसारमें अनेक विपत्तियां हैं। जब इन विपत्तियोंका उदय आयेगा तो जीव कहां छिपेगा? जहां होगा वहीं इसे दुःखी होना पड़ेगा।

इसी प्रकार जब अशुभ परिणाम करेगा तो कहां अपनेको सुरक्षित रख सकेगा? जंगलमें हो, एकांतमें हो, घरमें हो, मन्दिरमें हो, किसी भी जगह हो— जहां अशुभ परिणाम हुआ वहां कर्मबन्ध होगा अवश्य। और कर्मबन्ध हुआ तो उसका फल भी पाना पड़ेगा। इस कारण जिसने भ्रमसे वर्तमान समागमको सुखकारी जानकर मायासे, निदानसे, आशासे कोई पाप किया, तृष्णा की, संक्लेश बनाया तो उसमें जो पापबन्ध होगा, वह पापबन्ध छोड़ेगा नहीं, इस कारण सर्वत्र सर्वदा अपने आपके उपयोगको शान्त और जागरूक रखना चाहिए।

जिसने तपश्चरण नहीं किया उसका नरजन्म व्यर्थ है। तपस्या दो प्रकारकी होती है— एक बहिरङ्ग तपस्या और एक अन्तरङ्ग तपस्या। उपवास आदि करना यह बाह्य तपस्या है और अपने आपको विनयपूर्वक रखना, मान न आने देना, अपने आपके स्वभावकी दृष्टि बनाए रहना, यह सब अन्तरङ्ग तपस्या है। तो दोनों प्रकारके तपोंको जिसने नहीं किया, निर्मल चित्त नहीं बनाया, कामक्रोधादिक रहित जो आत्माका शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टि करके झरने वाला जो आत्मीय आनन्द है उस अमृतसे जिसने अपने आपको तृप्त नहीं किया, उसने अपनी आत्माको ही

ठगा। ठगने वाले लोग सोचते तो यह हैं कि मैंने दूसरेको ठगा, पर वास्तविक बात यह होती है कि वह खुद ठगा गया है। दूसरेको क्या ठग लिया? कुछ पैसा आ गया होगा।

कोई दूसरेको क्या ठग सकता है? कुछ लौकिक कल्पनाका कोई आराम पा लिया होगा, पर मलिन परिणाम जो किया है, उस मलिन परिणामके कारण जो बंध होता है, जो क्लेश होता है, वह आगामीकालमें क्लेशका बंधन करेगा, यह कितना बड़ा अनर्थ उसने किया है? तो जिसने मनुष्यजन्म पाकर तपश्चरण नहीं किया, चित्त शुद्ध नहीं किया उसने अपने आपको ही ठगा है। यह मनुष्यभव कितनी कठिनाईसे मिला है। जगत्के जीवोंको देखो—कैसे-कैसे जीव पड़े हुए हैं।। कीड़े मकोड़े, पेड़ पौधे, पशु पक्षी आदि। घोड़े, भैंसे जुत रहे हैं, मुँहमें लगाम लगी है। ऊपर से कोड़े पड़ रहे हैं। ऐसी बात कोई मनुष्य पर करके तो देखे मनुष्यको गाड़ीमें जोते, लगाम लगादे, गाड़ी पर बैठकर कोड़े लगाए तो क्या कोई ऐसा चाहता है? ऐसा कोई सह सकता है? पर वे बेचारे पशु पराधीन होते हैं सो जुत रहे हैं, कोड़े सह रहे हैं। कितनी तरहके दुःख जीवको हैं? वे जीव कोई दूसरे नहीं हैं। जैसे हम खुद हैं वैसे ही वे हैं। जीवद्रव्य तो सब एक समान हैं। क्या हम कभी घोड़ा भैंसा न हुए थे? हम भी तो हुए थे। कितने प्रकारके इस संसारमें संकट हैं और खोटे भव हैं।

उन खोटे भवों से उठकर इतने ऊँचे मनुष्यभव के पदमें आए, इतने पर भी यदि न चेते, चित्त निर्मल न किया, तपश्चरण और और प्रकारका धर्म न किया तो हमने अपने आपको ही ठगा। इस कारण एकमात्र यह दृष्टि बनाना है कि मेरा समय सत्संगमें गुजरे, प्रभुभक्तिमें गुजरे, अपने आत्मस्वरूपके ध्यानमें गुजरे, रागद्वेष मोह न हो, चित्तकी शुद्धि बने, इस प्रकारसे अपने कर्तव्यका स्मरण रखना है और यह दृढ़ निर्णय रखना है कि ऐसा मनुष्य जीवन पाकर भी यदि हमने अपना चित्त शुद्ध न बनाया तो अपने आत्माको ही ठगा।

यह जीव कर्मोंसे बंधा है इसका कारण है कि रागद्वेष बहुत किया। राग द्वेष हों तो यह जीव कर्मोंसे बँधता है। जिसका चित्त वैभवपरिग्रहमें आसक्त हुआ वह ही कर्मोंसे बंधता है। साक्षात् तो वह रागसे बँध गया। और फिर उस स्थितिमें जो सूक्ष्म कार्माण स्कंध हैं उनसे भी बंध गया और जिनका चित्त वैभव परिग्रहसे छूटा है, अन्य तृष्णावोंसे अलग हुए हैं वे ही मुक्त हुए हैं। इसमें रंच संदेह नहीं है। यह आत्मा निर्मलस्वभावी है, इसका ध्यान करनेसे बंध नहीं होता है। इस प्रकार इस दोहेमें यह भावना कराई

है कि बड़ा सावधान रहना है।

भैया! अपनेको निर्मल बनानेका यत्न कीजिये। धर्मदृष्टि हो, कषाय मंद हों, जरा-जरा सी बातोंमें क्रोध न आए क्योंकि क्रोध उत्पन्न करके कोई दूसरेका बिगाड़ नहीं करता, खुदका ही बिगाड़ कर लेता है। पर्यायमें अभिमान न आये, मैं ज्ञानी हूं, कलावान् हूं, चतुर हूं, धनी हूं, किसी भी प्रकार का अहंकार न आए। मैं तो एक शुद्धज्ञायकस्वरूप हूं, वर्तमानमें यह परिणति है, जगत्के जीवोंकी भी ये ये परिणतियां हैं, ये सब औपाधिक खेल हैं - ये हमारे स्वभावकी बातें नहीं है। इनका क्या अहंकार करना है? धनका क्या अहंकार किया जाये? धन सदा तो रहेगा नहीं, धनको छोड़कर जाना पड़ेगा या किसीके जीवनमें ही धन अलग हो जायेगा। तनका क्या अहंकार, यह भी तो न रहेगा, इसका भी वियोग होगा। मनका क्या अहंकार करना, जगत्में अनन्त जीव हैं, जो मनरहित हैं। तो मन भी तो विघट जाया करता है—ऐसा जानकर अहंकारका परित्याग करो, छल कपटका परित्याग करो।

भैया! जगत्में कौनसा पदार्थ ऐसा है कि जिस पदार्थके आनेसे ही तुम्हारा जीवन बनता हो या प्राण रहता हो? किसके लिए माया करना है, किसके लिए संचयके स्वप्न बनाना है? इन कषायोंको मंद करके अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करो, प्रभुभजन करो, अनेक प्रकारके धर्मकार्योंमें लगो, इससे ही आत्माकी शुद्धि है।

अब पंचेइन्द्रियका विजय दिखाते हैं:—

जे पंचिंदियकरहडा जिय मोक्कला म चारि।
चरिवि असेसु वि विसयवणु पुणु पाडहिं संसारि ॥१३८॥

पांचों इन्द्रियरूप जो ऊँट हैं उनको स्वच्छन्द मत चरने दो, क्योंकि सम्पूर्ण विषयबनको चरकर ये तुम्हें संसारमें पटक देंगे। एक ऐसी घटना लो कि किसी मनुष्यने चार पांच ऊंट चरानेके लिए और उनको ऐसे हरियाली वाले खेतमें छोड़ दिया जिसमें अच्छी तरहसे हरियाली चरकर अपना पेट भर लें और बादमें उन्होंने उस आदमीको धक्के लगाकर पटक दिया। इसी तरह ये पंचइन्द्रियरूपी ऊँट हैं। इन्हें स्वच्छन्द होकर चरने दोगे तो ये सारे विषयबनको चर लेंगे और समस्त सम्पत्तिको, साधनोंको बिगाड़ देंगे, फिर तुम्हें संसारमें ही गिरायेंगे। इन पंचइन्द्रियोंको ऊँटकी उपमा दी है। जैसे ऊंट ऊँची गर्दन किए कुछ नहीं देखता है, ऐसे ही ये पंचइन्द्रियां भी कुछ नहीं देखती हैं। जैसे ये ऊँट कोई ठीक डीलडौलके नहीं, याने सीधे एक मार्गपर चलने वाले नहीं, इसी प्रकार ये इन्द्रियां सीधे मार्ग पर चलने

वाली नहीं हैं ? तो इन पंचइन्द्रियरूपी ऊँटोंको स्वच्छन्दतासे न चरने, दें, क्योंकि ये संसारबनको चरकर तुझे इस संसारमें ही पटक देंगे।

भैया ! कहां तो असार विनश्वर इन्द्रियसुख और कहां अतीन्द्रिय सुखका स्वादरूप परमात्मतत्त्व ? कहां तो इन्द्रियोंका खण्डित ज्ञान और कहां आत्माका अखण्डित ज्ञान ? कैसा बेमेलका मेल हो रहा है ? अब तो इन पंचइन्द्रियरूपी ऊँटोंको इस संसारबनमें स्वच्छन्दतासे न चरने दें। अर्थात् अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न हुए वीतराग परमानन्दरूप सुखसे पराङ्मुख होकर अपने इन पंचइन्द्रियरूपी ऊँटोंको संसारबनमें न चरने दो, क्योंकि ये ही तुझे संसारमें पटक देंगे। आत्माका स्वभाव तो संसाररहित है, शुद्ध ज्ञान आदि शुद्धरूप है, अपनी विकासकलाको लिए है, किन्तु उस कलासे विपरीत जो यह संसारबन है, छद्मस्थ अवस्था होती है, रागादिक भावों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकारके संसारमें तुझे पटक देंगे याने बनाये रहेंगे। अब इस कालमें ध्यानकी जो विषमता है उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि—

जोइय विसमी जोयगइ मणु संठवण ण जाइ।
इंदिय विसयजि सुक्खडा तित्थुजि वलि वलि जाइ ॥१३९॥

हे योगी ! अपने शुद्ध आत्मामें न टिक सकने वाला जो यह मन है उसकी चचलता देखो कि ध्यानकी गति बड़ी विसम है। यह चित्तरूपी बंदर अपनी आत्माको शुद्धतत्त्वमें स्थित नहीं रहने दे सकता। बंदर जैसा चंचल जानवर और कोई नहीं देखा है। एक मिनट भी स्थिरतासे नहीं बैठ सकता। कहीं हाथ हिलाएगा, कहीं पैर हिलायेगा, कुछ न कुछ अवश्य करेगा। कभी किसी बंदर को स्थिर बैठा हुआ देखा हो बतलावो। बंदरकी ऐसी चंचल आदत है कि मिनटमें ही न जाने कितने बार हाथ पैर हिलाए। हां, सो जाये तो भले ही स्थिर रहे, नहीं तो स्थिर नहीं रहता। तो बंदर महाचंचल होता है। तो जैसे यह बंदर चंचल है, इसी प्रकार यह मन भी चंचल है। यह मन अपने आत्मतत्त्वमें स्थिरता को नहीं प्राप्त होने देता है।

यह संसारी जीव इन्द्रियसुखमें ही चैन मानता है, अतीन्द्रिय सुखकी भावनासे यह रहित रह जाता है। अतः मेरा चित्त चंचल होना प्राकृतिक बात है। जिसे अपने शुद्धस्वरूपका पता नहीं है और न यह निर्णय है कि ज्ञान और आनन्दस्वरूप स्वयं हैं, वह अपने ज्ञान और आनन्दस्वरूपकी दृष्टि छोड़कर बाह्यमें यत्र तत्र अपनी दृष्टि देगा, और परमें दृष्टि जाने से मनकी चचलता होती है। मनकी चंचलताका कारण है अपने आनन्दस्वरूप का पता न होना। इस जीव पर सबसे बड़ा संकट है तो अज्ञानका है। जब जब भी कोई दुःख होता हो तो यह ध्यानमें लेना चाहिए कि मेरी ही कोई

गलती है। अपनी गलतीके बिना अपने को दुःख हो ही नहीं सकता। गलतियां अनेक हैं। न भी कोई गल्ती हो और फिर भी लोग सतायें तो यह गल्ती तो कहीं भी निवारण नहीं की जा सकती। दुःखोंकी स्थितिमें इसने अपने ज्ञानानन्दस्वरूपको छोड़कर किसी पर्यायमें दृष्टि दी है। अपने आपका शुद्ध आत्मारूप न मानकर पर्यायरूप माना है, अथवा अपने स्वभावमें चित्तको स्थिर न करके बाह्यवस्तुवोंमें चित्त देते हैं तो यह गल्ती है ही। ऐसी अपनी गल्ती बिना अपनेको दुःख नहीं हो सकता।

भैया! राग करें तो दुःख होगा ही, अज्ञान हो, मोह हो तो दुःख होगा ही। रागपरिणति किसी जीवमें न हो और दुःख हो जाय, यह कभी नहीं हो सकता। जो वीतराग है, रागद्वेषरहित है उसके कभी दुःखकी परिणति नहीं होती। तो जब आत्मस्वभावका परिचय नहीं होता, अपनेमें कभी विश्राम नहीं लेता और आनन्द चाहता है तो इसकी दृष्टि बाह्यपदार्थोंकी ओर रहती है। सो उन बाह्य अर्थोंकी ओर दृष्टि होनेसे इसके चचंलता हो जाती है। इन्द्रियविषयोंसे सुख मान करके यह मन तो शुद्ध आत्मामें स्थिरताको नहीं प्राप्त होता। किन्हीं जीवोंका तो मन इन्द्रियके विषयोंके सुखमें आसक्त है।

भैया! यह आसक्त है अनादिकालसे, इस ओर ही इसकी वासना बनी रही। है तो यह अनादिकी वासना, किन्तु ज्ञानमें ऐसा अपूर्व बल है कि अनादि के बन्धनको भी, अनादिकी वासनाको भी वह ज्ञान तोड़ सकता है, पर उसको शिशुकी तरह निष्कपट ज्ञानकी रुचि जगनी चाहिए। अपने आपके सहजस्वरूप में। फिर उस रुचिके प्रतापसे ऐसा ज्ञानबल प्रकट होगा कि वह अपने अनादिकालकी परम्परासे बसे हुए संस्कारोंको तोड़ सकेगा। चूंकि आनन्दकी वासना लगी है और इन्द्रियविषयके सुखमें आसक्त है, अतः वह परमसुखसे रहित है। जो दुःख उसको आया वह इसलिए आया कि वह क्षोभमें आ गया, चंचलता बन गयी। ये दुःख दो प्रकारके हैं-- विषयसुखोंकी तृष्णा और कई प्रकार के व्याधि उपद्रव। ये दोनों दुःखके ही रूप हैं। संसारी सुख न तो शांति सहित भोगा जाता है और न कोई दुःख शांतिपूर्वक सहा जाता है।

अपने शुद्ध रसके आनन्दसे विघटा देने वाला यह मनरूपी बन्दर अत्यन्त चंचल है। इस मनकी चंचलताके कारण ध्यान स्थित नहीं होता। यह मन चंचल है सभी शास्त्रों और ऋषियोंने बताया है, सो कुछ न कुछ सत्संग, पूजा, स्वाध्याय, तप, व्रत, संयम आदि व्यावहारिक धर्म करते रहो क्योंकि मन चंचल है। शुभ प्रवृत्ति न होगी तो यह मन अशुभ प्रवृत्तियोंमें जायगा। इसलिएकुछ न कुछ करते रहने का उपदेश है।

एक कथानक है कि एक रोज किसीको एक देवताकी सिद्धि हो गयी। उसने किसी राजासे कहा कि हमें देवताकी सिद्धि हो गई है, हमें कोई काम बतावो, तुरन्त करेंगे, और यदि न बतावोगे तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे। अच्छा बतावो काम। ...यह तालाब बना दो, ...बन गया तालाब। ...किला बना दो, ...बन गया किला। ....मकान बना दो, ...मकान बना दिया। फिर कहा बतावो कोई काम। अब राजा परेशान हो गया, सोचा कि यदि काम नहीं बताते हैं तो हमारी जान जाती है। सो उसे एक युक्ति सूझी। कहा बतावो कुछ काम। कहा कि अच्छा ५० हाथका लम्बा एक डंडा गाड़ दो। गाड़ दिया डंडा। फिर कहा बतावो काम। कहा कि ६० हाथ लम्बी एक जंजीरका एक छोर इस डंडेमें बांध दो और एक छोर अपने गलेमें फंसा कर बन्दर बन जावो। और जब तक हम न कहें तब तक तुम इस डंडे पर चढ़ो उतरो। तो अब वह उस पर चढ़े फिर उतरे, चढ़े फिर उतरना बाकी रहा। अब वह स्वयं परेशान हो गया तो हाथ जोड़कर बोला 'राजन्! माफ करो। मैं अपनी बात वापिस लेता हूं। जब भी तुम हमारी याद करोगे तभी हम आयेंगे और तुम्हारा काम बना देंगे।"

इस कथानकसे शिक्षा यह लेना है कि जैसे बन्दर चंचल होता है, सामने खड़ा होता है और कहता है बतावो काम, बतावो काम, इसी प्रकार मनको कुछ न कुछ काम चाहिए, सो पढ़ो, लिखो, स्वाध्याय करो, उपदेश दो, पर सेवा करो, उपकार करो, कुछ न कुछ करते रहो। यदि कुछ न करोगे तो यह मन चंचल है, फिर अशुभमें गिरोगे, जन्म मरण करोगे। इस कारण चंचल मनको विषयोंसे हटा करके शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनामें लगो, यही एक करने योग्य कर्तव्य है।

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु।
होयवि पंचवि बाहिरउ झायंतउ परमत्थु॥ १४०॥

कहते हैं कि वही योगी ध्यानी है जो पंचइन्द्रियोंसे अलग होकर निज परमात्माका ध्यान करता हो, दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रयको पालता हो, वही योगी वास्तवमें योगी है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र या कहो श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र। कोई भी जीव श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके बिना रह नहीं सकता। इतना ही नहीं, प्रत्येक जीवमें ये गुण हैं और इन तीनोंका काम निरन्तर यह जीव कर रहा है। चाहे उल्टा करे और चाहे सीधा करे, पर जीवमें विश्वास लगा हुआ है। किसीको भोजनमें सुख है —ऐसा विश्वास है। किसीको अपने शरीरको आराम रखनेमें ही कल्याण है — ऐसा विश्वास है। जिसके मन नहीं है ऐसे जो स्थावर हैं, विकलत्रय हैं, इनके भी विश्वास

लगा हुआ है। नहीं तो कीड़ेको छेड़ते समय वह दुःखी क्यों होता है ? दुःखी होता है इसी कारण तो यह बिलबिलाता है कि इनको भी विश्वास है कि शरीरके सुखी रखनेसे, आराममें रखनेसे ही आराम है।

सो भैया ! विश्वास प्रत्येक जीवके साथ लगा है। किसीको केवल विषयका प्रायोजनिक ज्ञान है, किसीको हित अहितका विशिष्ट ज्ञान है। ज्ञान भी प्रत्येकके साथ है और चारित्र भी प्रत्येक जीवके साथ है। चारित्रका काम है किसी न किसी जगह रमा दे— विषयोंमें रमें, ज्ञानमें रमें, अहितमें रमें, कल्याणमें रमें, कहीं न कहीं रमें — ऐसा चारित्रका काम हो रहा है। इस प्रकार प्रत्येक जीव श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रमें रमते हैं। व्यवहारमें भी देखो — कोईसा भी काम हो, इन तीनों बातोंके बिना होता हो तो बतलावो। रसोई जो बनती है उसमें यह विश्वास है कि आटेसे रोटी बनती है, इस इस विधिसे बनती है या किसी दिन कोई ऐसा भी सोचता है कि कलके दिन तो आटेसे रोटी बन गयी थी, आज पता नहीं बनेगी कि न बनेगी ? ऐसी भी शंका कभी होती है क्या ? क्या किसीका ऐसा भी ख्याल होता है कि कल तो आटेसे रोटी बनी थी, आज चलो धूलसे ही बनालें। कैसा विश्वास है कि ऐसा करें— यों करें तो काम हो जायगा। ज्ञान भी है और ज्ञानके साथ विश्वास भी है, ऐसा कर लेते हैं तो रोटी बन जाती है।

व्यापार करने वालोंको भी विश्वास है कि दुकानमें इस प्रकारका लेनदेन करनेसे आय होती है, आयकी विधियोंका ज्ञान भी होता है, ऐसा करने लगें तो काम बन जाता है। इनमें से एक भी कम रहे तो काम नहीं बनता। रोगी है उसे भी विश्वास है कि यह वैद्य जी ठीक ही इलाज करेंगे। उसे ऐसा ज्ञान भी है, अमुक रोग है और यह अमुक ढंगसे ठीक होगा। सो जो औषधि वैद्य बताता है उसका वह सेवन करता है। तीनोंमें एक भी बन्द करदे तो काम नहीं बनता। ज्ञान भी हो, श्रद्धा भी हो और औषधि भी ले, पर ज्ञान न हो तो भी काम नहीं बनता। कोई कहे कि ज्ञान है, आचरण है, श्रद्धा न हो तो भी काम बनता दिखता है। ठीक है पर कुछ न कुछ श्रद्धा होती ही है। श्रद्धा न हो तो औषधि क्यों खायेगा ?

तो प्रत्येक काममें तीनों बातें जीवमें लगी रहती हैं। यदि मोक्षका कार्य करना हो तो जानो कि मोक्ष किसे कहते हैं ? मोक्ष मायने छुटकारा हो जाना। किससे छुटकारा हो जाना ? शरीरके बन्धनसे छुटकारा हो जाना। अभी कर्मोंसे बन्धे हैं ना। तो उनसे अलग हो जायें। तो ग्रहणमें आना चाहिए खालिस आत्मा ही— क्यों ? जो बन्धनमें दो चीजें हैं उन दोनोंका सहजस्वरूप जब तक ध्यानमें नहीं होता, तब तक मोक्षकी विधि नहीं बनती,

यत्न नहीं बनता। तब मोक्ष पानेके लिए इस आत्माका केवल स्वरूप ज्ञात होना चाहिए। आत्माको इस शरीर और कर्मोंसे छुड़ाना चाहिए। तो जब तक निज शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान् नहीं होता, ज्ञान नहीं होता, तब तक इस ओर अर्थात् अपने आपको केवल रहने देने का आचरण भी नहीं हो सकता। तो अपने शुद्ध आत्मद्रव्यका जो यथार्थविश्वास है, ज्ञान है और इस प्रकारका आचरण है अर्थात् अपने आपको मैं केवल ज्ञानज्योति हूं, ज्ञानप्रकाश मात्र हूं, ऐसा अनुभव आये, उसकी बात है। उस रूप परिणम जाये।

भैया! जब हम किसी दूसरी ही चीजको बड़ी लीनताके साथ अपनाते हैं तो हम अपने को तद्रूप अनुभव कर लेते हैं। जैसे किसी नाटकमें जब कोई पात्र जिसका भेष रखे है, जब उसमें लीन हुआ तो उसे यह ख्याल नहीं रहता कि मैं मनुष्य हूं, नाटक कर रहा हूं, लोगों को दिखा रहा हूं, किन्तु जो करना चाहिए वही कर डालता है और कहीं ऐसी घटना भी सुनने में आयी—जैसे अमरसिंहका नाटक किया, तो नाटक करते हुएमें अमरसिंहने तलवार चला दी। नाटकमें तो मारते समय मारना भी दिखाया जाता है। तो उनकी कोई मारने की युक्ति होती है कि दिखता है कि मार दिया पर उसके लगता नहीं है। तो जो अमरसिंह बना था उसको जोश आ गया, वह अपने को भूल गया कि मैं अमुक लड़का हूं, अमरसिंहका पार्ट यहां पर अदा कर रहा हूं। वह अपनेको भूल गया, जोशमें आकर तलवार चला दी, वह गुजर गया। जब एक लीनताके साथ अपने आपमें कुछ कल्पना कर ली कि यह मैं हूं तो दूसरी बात फिर इसके चित्तमें नहीं रहती।

ब्रह्मगुलाल मुनिका भी कथानक ऐसा ही है। वे बहुरूपिया थे। राजा जब कहे कि अमुक भेष तुम धरो तो वह धरता था और सभाको प्रसन्न करता था। तो उस बहुरूपियाको एक बार राजाने कहा कि तुम सिंहका रूप धरकर इस सभामें आवो। जब सिंहका रूप धरकर आया तो सिंहकी बात तब तक अच्छी नहीं की जा सकती जब तक अपने को सिंहका अनुभव न करले। सो सिंहका रूप धरकर वह आया। सभासे निकला। राजाके लड़के ने उसे निन्दारूप वचन जैसे आ गई कुतिया आदि कहे। उसके जोश आया तो राजपुत्र पर पंजा मार दिया, गुजर गया राजपुत्र। राजाने सोचा कि बड़ा अनर्थ हुआ और मैंने वचन भी दिए हुए हैं कि तुम बहुरूपियाका स्वांग दिखावो। यदि स्वांग दिखानेमें कुछ हो जाता है तो तुम्हें क्षमा है। बड़े विचारके बाद मंत्रियोंसे सलाह लेकर एक अकल आयी। राजाने हुकुम दिया कि मुनिका भेष धरकर सभाको दिखाओ।

भैया ! मुनिका भेष धरकर फिर तो नहीं छोड़ा जाता। इसीलिए तो जैन नाटकोंमें मुनिका रूप और भगवानका रूप किसीको नहीं धराया जाता। ऐसा नहीं है कि महावीर स्वामीका नाटक हो रहा है। तो किसी लड़के को महावीर बना दो। समवशरण भी बताया जाता, दिव्यध्वनि भी बतायी जाती तो पर्देकी ओटमें खड़ा होकर कुछ भी बोल दे तो वह बात अलग है, मगर नाटककी भूमिपर स्पष्टरूपमें न कोई देवका रूप रख सकता है और न गुरुका रूप रख सकता है। तो उस बहुरूपियेने कहा कि इसके लिए हमें ६ महीनेकी इजाजत दो। ६ महीने बाद मैं मुनिका रूप दिखाऊँगा। उसने दरबारमें जाना छोड़ दिया। स्वाध्यायमें, ज्ञानभावनामें, आत्मचिंतनमें अपना समय व्यतीत किया। अंतमें साधु होकर सामनेसे निकल कर चला गया। रुकनेका कोई काम न था, फिर उसके बाद उन्होंने साधना की। ब्रह्म-गुलाल मुनिका मठ फिरोजाबादमें बना है। शायद वे वहीं आसपास पैदा हुए थे।

योगी पुरुष वही है जो पंचइन्द्रियसे अलग होकर अपने निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माका ध्यान करता है। ये इन्द्रियां पंचमगतिके सुख का विनाश करने वाली हैं। यद्यपि पांचवी कोई गति नहीं होती, मगर चार गतियां जब नहीं रहती हैं, ऐसी अवस्थाका नाम पंचमगति रखा है। ये पंच-इन्द्रियां शुद्ध आत्माकी भावनाकी विरोधी हैं। सो इन इन्द्रियोंसे दूर होकर जो अपने आत्मस्वरूपका ध्यान करते हैं वे ही योगी कहलाते हैं। योगीका अर्थ है जो समाधिस्थ हो। जो अपने आपको चेते उसे योगी कहते हैं। योगका अर्थ जोड़ है। जैसे कई संख्या लिखकर जोड़ते हैं तो नीचे लिखते हैं योग। तो योग मायने जोड़ देना, मिला देना। अनेकता न रहने देना। दस रकमें हैं उन्हें जोड़ दिया, वही योग हो गया। तो योगका अर्थ जोड़ना है। तो जो पुरुष अपने उपयोगको अपने शुद्ध आत्मामें जोड़ता है उसको कहते हैं योगी अर्थात् वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थ जीव अथवा अनन्त ज्ञानादिक जो स्वरूप है उस शुद्ध स्वरूपमें परिणम जाना, इसका नाम योग है, और योग जिन जीवोंके होता है उन्हें योगीपुरुष कहते हैं अर्थात् ध्यानी और तपस्वी कहते हैं।

अपने उपयोगको शुद्ध आत्मामें जोड़नेका उपाय यह है कि यह उपयोग अपने आपको शुद्ध चित् प्रकाशमात्र जैसा कि इसका सहजस्वरूप है, अपने आपकी सत्ताके कारण जो सहज भाव है, तदात्मक अपने आपको निरखें तो ऐसा निरखना कब अभेदरूपसे होगा, जब यह समस्त यहां वहांके संकल्पविकल्पोंसे मुक्त होगा और एक ज्ञानप्रकाशमात्र वृत्ति करता हुआ

रहेगा ऐसी स्थितिको योग कहते हैं। जगत्के जीवोंको अपने शुद्ध एकत्व निश्चयरूप शुद्ध प्रकाशमात्र, जाननमात्र एक ज्ञायकस्वरूप ही अपने उपयोग में हो – ऐसी स्थिति अब तक नहीं बन पायी है और इस निज शुद्ध तत्त्वके परिचय बिना बाहरमें जगह्-जगह आश्रय ढूँढ़ता फिरा। घरमें सुख होगा, परिवारमें सुख होगा या वैभव बढ़ जानेसे सुख होगा। सब जगह इसकी गति बढ़ती चली जाती है, और सुखका निधान जो स्वयंका आत्मतत्त्व है उसकी ओर दृष्टि नहीं पहुंची।

भैया! शुद्धात्मभावनाका काम तो रोजके करने का है, चाहे एक मिनट को ही हो, क्षणिक हो। इसीलिए रोजके कर्तव्योंमें सामायिक ध्यान भी एक कर्तव्य है। सामायिक का सारभूत क्षण कौनसा है? जैसे लकड़ी होती है तो उसमें सारभूत तत्त्व बीचमें या बीचके थोड़ा अगल बगल ठोस रहता है। वैसे लकड़ी सब मजबूत है, पर सारभूत चीज मध्यमें है। इसी प्रकार जाप, सामायिकका जितना समय है, जाप भी करते हैं, बारह भावना भी पढ़ते हैं, स्तुति भी पढ़ते हैं, और-और विचार भी करते हैं, पर जिस-जिस क्षण परद्रव्यविषयक विकल्प छूटकर केवल शुद्ध चित्प्रकाशमात्र अपने आपके उपयोगमें दृष्टि हो और कुछ वृत्ति न बन रही हो, ऐसी जो वृत्ति है, वह वृत्ति सामायिकमें सर्वस्व सारभूत वृत्ति है। या यों कहो कि इस क्षणके पाने के लिए ही सामायिक का कार्य किया था। जो अपने शुद्धआत्मतत्त्वमें जुड़े हुए हैं उन्हें योगी पुरुष कहते हैं। इन इन्द्रियोंके विषय सुखोंसे हटकर जो शुद्ध आत्मामें लगा हो उसे योगी कहते हैं। ऐसा योग ही हम सबका एक कर्तव्य है। अब जो पंच इन्द्रियोंका सुख है उसका अनित्यपना दिखाते हैं।

विषय सुहइँ वे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि।
भुल्लहु जीवम वाहि तुहुं अप्पण खंध कुहाडि ।।१४१।।

कहते हैं कि हे जीव! ये विषयोंके सुख दो दिनके हैं। बादमें तो दुःखों की परिपाटी है। इसलिए हे भ्रान्त जीव! तू अपने हाथसे अपने कंधे पर कुल्हाड़ी मत चला। जीव अपने मनसे स्वच्छन्द होकर अपने आपकी परिणतिसे ही तो दुराचारमें जाता है, खोटे ऐबोंमें, खोटे विचारोंमें लगता है। तो अपने आप ही तो अपने पर कुल्हाड़ी मारी। कोई दूसरा जीव इस का दोषी नहीं बनता है, खुदमें कमी है, खुदका उपादान अयोग्य है, खुद अच्छे आशयका नहीं है तो खुद ही अपने मनको स्वच्छन्द करता है और नाना अनुचित प्रवृत्तियां करता है। सो दूसरे लोग इसकी प्रवृत्तिको देख तो सकेंगे नहीं। कुछ अनुचित काम किया जायेगा तो देखने वालोंके द्वारा आपत्ति आयेगी और कर्मबंध होगा। सो स्वयं ही अपने आप आगामी

कालमें आपत्ति आयेगी।

हे जीव! ये विषयोंके सुख दो दिनके हैं, बादमें तो दुःखकी परिपाटी ही है। सो हे भले जीव! तू अपने कंधे पर अपने हाथों कुल्हाड़ी मत चला। तू जरा अपने आपके स्वभावको और विषयोंको देख कितना अन्तर है? मैं तो विषयरहित हूं, केवल चैतन्य प्रकाशमात्र हूं, नित्य हूं, वीतराग परमानन्द एकस्वभावी हूं, परमात्मसुखरूप हूं और कहां ये विषयसुख जो रंच भी हितके कारण नहीं हैं। जिस काल इच्छा हुई उस काल दुःख, बादमें साधन जुटानेका यत्न करो तो दुःख, पश्चात् देखो तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है। दो दिनके बाद जो विषयासक्त होकर, बहिर्मुख बनकर पाप उपार्जित किया है उनके उदयसे उत्पन्न नारक आदिक दुःख होंगे, उनकी परिपाटी चलेगी, ऐसा जानकर हे भ्रान्त जीव! तू अपने आपके कंधे पर अपने हाथ से कुल्हाड़ी मत चला।

भैया! इस वर्णनको जानकर, विषयसुख को त्यागकर वीतराग परमात्मसुखमें स्थित होकर शुद्ध आत्मतत्त्वकी निरन्तर भावना करनी चाहिए। जैसा अपनेको देखेगा तैसा ही परिणमनमें आयेगा। अपने को पर्यायरूप निरखेगा कि मैं मनुष्य हूं, स्त्री हूं, अमुक जाति कुलका हूं, अमुक परिवार वाला हूं तो नियमसे आकुलता होगी, और यदि अपने आपको शुद्ध आत्मतत्त्वमें देखेगा तो तुझे शांति होगी। सबसे बड़ा धर्म अपने आप का निर्णय कर लेना है। क्या मैं त्यागी हूं, या मैं एक ज्ञायकस्वरूप मात्र चैतन्य पदार्थ हूं? क्या मैं अमुक परिवार वाला हूं? या मैं सबसे निराला शुद्ध केवल चैतन्यप्रकाश मात्र हूं—इस प्रकार अपने आपका निर्णय कर लेना, सोई सुख दुःखका फैसला बनाना है।

अब यह बतलाते हैं कि जो आत्मभावनाके लिए विद्यमान विषयोंको भी त्याग देता है वह प्रशंसाके योग्य है, छूटना सब कुछ है। दिल छोड़ने को चाहे करे, चाहे न करे। लखपति, करोड़पति कोई हो। जिसके पास जो समागम है, वह छूटेगा अवश्य। अब चाहे उसको अंतरङ्गसे छूटा हुआ सोचनेका परिणाम बनाओ या न बनाओ। परवस्तुको अपना मानना, यह संसारमें बहनेकी परिपाटी है। और यह संसारके संकटोंसे छूटनेकी शैली है कि अपना जो आत्मा है, जिस प्रकार सहज है, केवल एक चैतन्यमय है—इतना ही अपनेको कबूल करले तो संसारके संकटोंसे छूटना बन सकता है अन्यथा नहीं बन सकता है।

संता विसय जु परिहरइ वलि किज्जइ हउँ तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥१४२॥

जो ज्ञानी पुरुष विद्यमान होते हुए भी विषयोंको त्याग देते हैं उनकी मैं पूजा करता हूं, क्योंकि जिसका सिर गंजा है वह तो दैवके द्वारा ही मुड़ा हुआ है। वह मुंडित नहीं कहा जा सकता। बाल हों सिर पर और फिर उनको मुड़ाया जाय तो कहना चाहिए कि अब सिर मुड़ गया। तो जैसे गंजे हुए सिर पर बाल न होनेसे बालोंका मुड़ाना नहीं कहा जाता, इसी तरह जिनके पास कुछ नहीं है उनको त्यागी नहीं कहा जाता। हो और फिर त्याग दे उसके मायने हैं त्याग करने वाला। यह विषय कटुक विषकी तरह है। जैसे विषफल होता है तो देखनेमें बड़ा सुन्दर लगता है, पर कोई खा लेवे तो मृत्युका कारण बनता है। इसी प्रकार ये विद्यमान जो विषय हैं, ये वर्तमान कालमें तो बहुत सुहावने लगते हैं पश्चात् इनसे आपत्ति होती है।

भोजन करते समयमें कैसा सुहावना भोजन लगता है, छोड़ा नहीं जाता है। रोज रोज खा रहे हैं, पर जब भी खाने बैठे तभी सुहावना लगता है। वैसी ही चीज पेट भरने पर सुहावनी नहीं लगती है। न देखा जाय, न खाया जाये। खा चुकने के बाद मिला क्या? इतना कह सकते हैं कि जो क्षुधाकी वेदना थी वह मिटी, पर बढ़िया—बढ़िया भोजनसे पेट भरे, कीमती रसीली चीजोंसे पेट भरे तो उससे अंतमें मिला क्या? क्या हाथ रहा? कोई लाभकी बात रही क्या? कुछ भी तो नहीं रहा। तो कोईसा भी विषय हो, उस विषयके सेवनेके बाद यह आत्मा रीता का ही रीता रहता है। इन विषयोंके लोभमें न आवो, ये विषय निश्चय ही धर्मके लूटने वाले हैं। आत्मा की पवित्रतासे ये विषय बरबाद करने वाले हैं।

भैया! कहां तो हमारा निरुपराग स्वरूप है शुद्ध केवल जाननहार, अपने आपकी ओरसे कुछ मिला इसे तो एक चैतन्यस्वरूप और कहां इस विद्यमान विषयोंमें किन्हीं परपदार्थोंकी ओर झांक रहे हो। कितना बेमेल है? बात पर मेल बन रहा है। जिन पुरुषोंने ऐसे विद्यमान विषयोंका भी त्याग किया, उन पुरुषोंकी मैं बलि-बलि जाता हूं। ऐसा भाव भी वही पुरुष कर सकता है जिसे विषयोंमें प्रीति न रही हो, विरक्त पुरुषोंकी प्रशंसा कौन कर सकता है, जो खुद भी थोड़ा बहुत विरक्त हो। रागी पुरुष विरक्तकी प्रशंसा नहीं कर सकता। खुद ही कुछ विरक्त हो तो प्रशंसा की जा सकती है। यहां रचयिता योगीन्दुदेव ऐसे विरक्त पुरुषोंकी प्रशंसा करते हुए अपने ही गुणोंसे अनुराग कर रहे हैं। मैं उन ज्ञानी संत पुरुषोंके चरणोंमें बलि-बलि जाता हूं जिन्होंने विद्यमान विषयोंका भी परिहार कर दिया है और वर्तमान कालमें कोई विषयोंका परित्याग करे और आत्मकल्याणमें रुचि करे, उसे तो बहुत साहसी समझना चाहिए।

भैया ! चतुर्थ कालमें तो अरहंत भी देखने को मिलते थे, ऋद्धिधारी मुनि भी दर्शनके लिए मिलते थे, देवोंका आगमन भी था। उनको देखकर धर्मकी रुचि होती थी। अवधिज्ञानी पुरुष थे, धर्मका साक्षात् प्रभाव भी देखने को मिलता था। दूसरोंको अवधिज्ञान हो, मनःपर्यय ज्ञान हो, केवलज्ञान हो, इस बातको देखकर अपने को भी सम्यक्त्वकी भावना जगती थी। और जब निरखते थे ऐसे परमदेवोंको तो उनके चरणोंमें बड़े-बड़े राजा, चक्रवर्ती, मुकुटधारी सेवा करने आते थे और बड़े-बड़े राजा महाराजा धर्ममें रत दीखते थे। बलभद्र चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी थे जो धर्ममें प्रमुख थे—ऐसी ऐसी बातें जहां दिखती थीं वहां धर्ममें कोई लग जाय, विरक्त हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात न थी।

किन्तु आज जैसे रीतेकालमें जहां न कोई अरहंत मिलें और न कोई ढंगसे साधु मिलें, न कोई धर्ममें बहुत लवलीन रहने वाले ऐसे राजा महाराजा बड़े पुरुष मिलें और फिर भी किसीको अपने आपमें ज्ञान जगे, विरक्ति जगे, विषयोंकी प्रीति हटे, विषयोंका परित्याग करे तो यह बहुत ही बड़ी प्रशंसाकी बात है।

कैसा यह विषमकाल है कि यहां की प्रवृत्तियां देखकर उत्साह जगता है तो पाप करने के लिए जगता है। अन्याय करके, धोखा देकर बड़ा धन संग्रह करने वाले और अनेक पुरुषों पर अन्याय करके अपना वैभव दिखाने वाले बहुत देखने को मिलते हैं। जहां पैसे पैसे की ही वाहवाही चल रही है, पैसे बिना कुछ काम नहीं निकलता, बैठ नहीं पाते, रह नहीं पाते। कहां हैं वे सात्त्विक पुरुष जैसे कि पहिले थे। पासमें पैसा न हो तो भी बर्षों आनन्द से जीवन गुजार सकते थे। जंगलमें रहकर अपने हाथ ही खेती करलें, कुछ बो लें, प्रेमसे अपना जीवन बिता दें। आज पद-पद पर पराधीनता है। लोग बड़े खोटे-खोटे काम करते हैं, वे ही सभामें प्रमुख बनते हैं, नेता होते हैं, सरकारमें मान्य होते हैं, ऐसी चीज जहां दिखती हो वहां उत्साह विरक्तिका हो या पापका हो, लोग किस ओर झुकें? ऐसे भी समयमें किसीके ज्ञान जगे और विषयोंके त्यागकी वृत्ति बने तो वह पुरुष धन्य है।

इस पंचमकालमें न कुछ अतिशय दिखते, न देवोंका आना दिखता, न किसी को केवलज्ञान होता, न यहां कोई पुण्यवान् जीव नजर आते, न कोई महापुरुष हैं, राजा महाराजा चक्रधर हैं। ऐसे विषमकालमें भी जो जीव वर्तमानमें पाये हुए भोगोंका, वैभवका परित्याग करता है वह प्रशंसाके योग्य है। जिसका होनहार उत्तम हो उसके ही ऐसी बुद्धि जगती है कि रहना तो कुछ है नहीं, स्वयं ममता छोड़ दे। कुछ अकिंचनसा अपने को कुछ क्षण

बिगड़ा हुआ बन रहा है। कर लिया ज्ञान अट्ट सट्ट, इच्छा हुई उसे संयत न कर सका, जैसा इच्छाका परिणमन हुआ उसके अनुकूल बाहरमें बह गया। अपध्यानसे उत्पन्न होने वाले विकल्पजालों रूप यह मन नायक है।

भैया! हुआ क्यों अपध्यान? इसको आकांक्षा लगी है भोगोंकी। न मिली अभी तक जो चीज, पर देख लिया तो इच्छा हो गई। सुन लिया तो इच्छा करने लगा, और जो भोग उपभुक्त हैं उनकी इच्छा करता है, देखनेकी इच्छा करता है, सुननेकी इच्छा करता है, रोज-रोज अनुभव भी करता है, पर टाइम आने पर फिर इच्छा करने लगता है। और भावीकाल के बड़े-बड़े निदानरूप अपनी इच्छाका फैलाव ऐसे भोगोंकी आकांक्षारूप अपध्यानसे उत्पन्न होता है विकल्प, सो विकल्पजालरूप यह मन नायक है। इसको भेदविज्ञानके अंकुशसे अपने वशमें करो।

न किया मनका काम, न मनके हुक्मसे विषयोंमें लगें तो मुझ आत्मा का कहीं विनाश नहीं हो जाता। इस कारण यह आत्मा मनके अनुकूल न चले तो इस आत्माका बिगाड़ नहीं है। बल्कि मनको संयत करने से, कंट्रोल में लेने से इसमें अपने आप सुख उत्पन्न होता है। सो इस मनको अपने आधीन बनाने से क्या लाभ होगा कि जब मन स्वाधीन हो गया, वश हो गया तो इन्द्रियां वश हो ही जायेंगी। जैसे जड़के नष्ट होने पर पत्ते अवश्य सूख जाते हैं।

इस दोहेमें यह शिक्षा दी गई है कि जिस किसी भी प्रकार हो इस मन पर विजय करना चाहिए। क्यों विजय करना? अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना के लिए विजय करना? एकमात्र कर्तव्य है हितैषीका कि अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस सहज ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकना। इस प्रकार मन पर विजय कर लेने से यह आत्मा जितेन्द्रिय हो जाता है। इसलिए जिस किसी भी उपायसे मनको अपने नियंत्रणमें कर लेना चाहिए, जगत्से उदास होकर मनको जीतना चाहिये और जगत्से उदास होने का उपायभूत जो अपना सहज शुद्धस्वरूपका प्रतिभास है उसमें रत होना और इन इन्द्रियोंके विषयोंसे विराम करना चाहिए।

अब इस जीवको ऐसा सम्बोधते हैं कि हे जीव! विषयोंमें आसक्त रह-रह कर कितना काल और गँवायेगा? जितना काल गँवा चुके हो उतने गँवाए हुए कालसे कुछ हाथमें है आज? ज्योंके त्यों रीते हो। इस प्रकारका कितना और समय व्यतीत करोगे? कुछ तो परिमाण बताओ कि मरते दम तक भी ऐसे ही समय बिता देना है?

अनुभव तो कर लें। अब मनको विजय कर लेने पर इन्द्रियोंकी विजय हो ही जाती है, इस बातको प्रकट करते हैं।

पंचहँ णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्णु।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइ सुक्कहि पण्णु ॥ १४३ ॥

पंचइन्द्रियोंका जो नायक है मन, उस मनको वश करलो। यदि मन बश किया जा सका तो अन्य इन्द्रियां वशमें हो ही जाती हैं। जैसे वृक्षका मूल विनष्ट कर दिया तो पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं। यह मन नायक बना है। यह मन कुछ भोग उपभोग नहीं कर सकता, भोग उपभोग करने वाली ये पांच इन्द्रियां हैं। इस मनमें कुछ दम नहीं है। कुछ दम न होते हुए भी यह उद्दण्ड हो रहा है। मनकी पद्धतिका अलंकारमें जहां वर्णन किया गया है, वहां बताया है कि यह मन शब्द नपुंसकलिंग है। मन नपुंसक है, यह मन स्वयं भोग उपभोग नहीं कर सकता, इसलिए वह नपुंसक है। तो ऐसा कायर नपुंसक, किसी भी कामको न कर सकने वाला और बन बैठा पंचइन्द्रियोंका नायक। सो इस नायकको वशमें कर लेने पर ये सब इन्द्रियां स्वयं वश हो जाती हैं।

जीवका एक ज्ञानबल ही सत्यबल है और सारे बल झूठे हैं। जनबल से आत्माको आनन्द नहीं मिलता, धनबलसे आत्माको शांति नहीं मिलती है। धन होने पर भी ज्ञान हो तो शांति मिलती है। धन है और ज्ञानका विवेक ठीक नहीं है तो उस धनसे शांतिकी किरणें निकल-निकल कर आत्मा में आ जायें— ऐसा नहीं है। ज्ञानबल ही एक बल है, और कोई दूसरा बल है ही नहीं, जो शांति उत्पन्न कर सके। सो उस ज्ञानबलके प्रयोगसे ही यह मन वश होता है अन्यथा नहीं होता है।

इसी उद्देश्यसे सत्संग होना, धर्मात्मावोंका संग अधिक होना आदि कर्तव्य हैं, क्योंकि धर्मात्मावोंके संगसे प्रोत्साहन मिलता है। स्वाध्याय करना, ज्ञानार्जन होना और अपनी तरह, अपने घरके जीवोंकी तरह दूसरे जीवोंको भी सुखका ख्याल होना, वैभवमें आसक्त न होना, तृष्णा न होना ये सब बातें आवश्यक हैं। छोड़ना तो सब पड़ेगा ही इसी जीवनमें। इस छूटे हुएकी दृष्टि अपने आपमें जगे तो कुछ लाभ है अन्यथा छूटेगा तो सब। उस छूट पाये हुएसे कोई लाभ न ले पायेगा। यह मन नायक है, अपध्यानसे उत्पन्न होने वाले विकल्पोंसे यह मन भरा हुआ है।

कहां है वह मन ? किस जगह है वह मन ? वह मन बिगड़ा हुआ ज्ञान ही तो है। द्रव्य मन तो है एक जगह देहमें भीतर, पर भाव मन कहां बैठा है कि जहां यह बिगड़ा हुआ है। समूचा आत्मा ही भावमनरूप बन रहा है,

विसयासत्तउ जीव तुहुं कित्तिउ कालु गमीसि ।
सिवसंगमु करि णिच्चलउ अवसइँ मुक्खु लहीसि ।।१४१।।

हे अज्ञानी जीव ! विषयोंमें आसक्त होकर कितना काल और बितायेगा ? अब तो शुद्धआत्माका अनुभव निश्चल होकर कर । यदि शुद्ध-आत्माका अनुभव करता है तो तू अवश्य मोक्षको प्राप्त करेगा । जीव विषयों में आसक्त तब होता है जब इसे पारमार्थिक सुखका अनुभव नहीं होता । पारमार्थिक सुखके अनुभवसे रहित होनेके कारण ही जीवको विषयोंमें प्रीति उत्पन्न होती है । इसको तो आनन्द चाहिए । बड़ा आनन्द इसे न मिला तो झूटे मौजमें ही रम गया । और सत्य सहज स्वाधीन आनन्द मिल जाये तो पराधीन, असार, विनाशीक विषयोंके सुखमें किस लिए रमेगा ?

भैया ! उस परमार्थ सुखकी उत्पत्ति होती है वीतराग परमानन्दमय आत्मतत्त्वसे । इसही आत्माका उपयोग करने से आनन्द झरता है । यह आनन्द भी कैसे मिलता है? शुद्धआत्मतत्त्वकी भावना करनेसे । किसी पुरुष का कोई इष्ट गुजर जाये तो कितनी करुणवाणीसे रोता है, पुकारता है । क्योंकि उसे पता है कि मैं अमुक हूं और मेरा बहुत विनाश हो गया है । यदि यह पता करले कि मैं जो था सो ही हूं, जितना था उतना ही हूं, इस मेरेमें कुछ आया गया नहीं है—ऐसे अपने शुद्ध निज चैतन्यप्रभुका बोध करले तो अभी रोना मिट जाय, अभी सुखी हो जाय। पर हे अज्ञानी जीव ! तू विषयसुखमें आसक्त होकर कितना काल और गँवायेगा ? तो फिर क्या करना है ? शिवमय जो शुद्धआत्मा केवलज्ञान दर्शनस्वभावभूत जो निज शुद्धआत्मा है उस आत्माका संगम करो । उसमें निश्चल हो जावो । घोर उपसर्ग भी आयें तो उनके प्रसंगमें भी क्षोभरहित मेरुवत् निश्चल बनो । निश्चल आत्मध्यानसे अवश्य सुख पावोगे, अनन्तज्ञानादिक गुणोंके भास्पद इस मोक्षतत्त्वको प्राप्त करोगे, इसलिए विषयासक्तिको तजकर एक शुद्ध आत्माकी भावना करो ।

अब मुनि जनोंको ऐसा सम्बोधन करते हैं कि शिवमय जो निजशुद्ध आत्मा है उसका संसर्ग मत छोड़ो ।

इहु सिवसंगमु परिहरिवि गुरुवड कहिं म जाहि ।
जे सिवसंगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ।।१४२।।

हे तपस्वी जनों ! आत्मकल्याणको छोड़कर कहीं भी तुम मत जावो । जो अज्ञानी जीव निज भावमें लीन नहीं होते हैं, वे सब दुःखोंको सहते रहते हैं—ऐसा तू देख । यह अपने आपके सम्वेदन द्वारा प्रत्यक्षमें आया हुआ जो शिव स्वरूपका संगम है उसको छोड़कर तू मिथ्यात्व रागादिक

परिणामोंमें उपयोगको न दे, अपनी आत्मदृष्टिमें रह। यह शिव शब्द द्वारा वाच्य अनन्त ज्ञानादिक स्वभाव वाला जो निज शुद्ध आत्मा है, उसका सम्बन्ध छोड़कर अर्थात् रागादिरहित वृत्तिसे उस आत्माके दर्शनको छोड़ कर तुम मिथ्यात्व रागादिक किन्हीं भी भावोंमें गमन मत करो। जो कोई विषयकषायोंके आधीनरूपसा कायर बनकर शुद्ध आत्मामें लीन नहीं हो सकता, वह जगत्में व्याकुलताको ही सहता हुआ देखा जाता है।

देखो ना, सभी जीव कितने दुःखी हैं। मनुष्य हैं तो क्या, पशु हैं तो क्या, सबको दुःखी ही दुःखी देख रहे हैं। यह काहेका दुःख है? एक अपने स्वरूपको न निहारनेका। जहां आनन्द और संतोष भरा हुआ है उसकी दृष्टि नहीं करते और बाहरको निरखते हैं, सो बाह्यदृष्टिमें इसे संतोष कैसे मिलेगा? वहां तो क्लेश ही क्लेश हैं। अपने ही देहमें निश्चयनयसे जो ठहर रहा है, केवल ज्ञानादिक नानागुणोंसे सहित जो परमात्मस्वरूप है, शिव है, कल्याणमय है, आनन्दघन है, उसको जानों, उसको देखो। और कोई जगत्का या मेरा कर्ता शिव नामक अलगसे नहीं है। यह ही आत्मा उपादान उपाधि परका निमित्त पाकर स्वयंकी परिणतिसे विकाररूप परिणमता चला जाता है। तू ही अपनी दृष्टिको मलिन करके सुखी और दुःखी होता है। अपना सहजस्वरूप यदि तेरी दृष्टिमें रहे तो कहीं आकुलता नहीं है। ऐसी दृष्टिका सही बन जाना इसीका नाम सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है, इसी बातको इस दोहेमें बताते हैं।

कालु अणाइ अणाइ जिय भवसायरुवि अणंतु।
जीविं विण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिय सम्मत्तु ॥१४३॥

जितना काल व्यतीत हुआ वह काल अनन्त है, क्योंकि वह अनादि है, समयका आदि नहीं है। क्या है कोई ऐसा दिन जिसके पहिले दिन न हुआ हो और जबसे दिन बनना शुरू हुआ हो? क्या है कोई ऐसा समय जिससे पहिले कोई समय न हुआ हो? कोई ऐसा समय नहीं है। यह काल अनादिसे चला आया है और यह जीव भी अनादिसे है। क्या यह जीव किसी दिनसे बना है? बना है तो किसी उपादानसे बना है। कौनसी चीज जोड़ जोड़कर बनाया गया है? और जिससे जोड़कर बनाया गया है वह तो अनादि है ना, और चेतनसे चेतन ही बनता है। अचेतनसे चेतन नहीं बनता है। सो वह भी चेतन ही था। और फिर बनाया किसने? इस समस्त जगत्का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध सहित परिणमन चला जा रहा है।

यह जैन सिद्धान्त आजकलके वैज्ञानिकोंकी बुद्धिके अनुकूल है।

वैज्ञानिक लोग भी इस बात पर विश्वास नहीं करते कि कोई कमलवासी या कोई सिंहासनारूढ़ कोई देव इस जगत्को बनाता हो। इस पर विश्वास आजकलके वैज्ञानिक नहीं करते। उनका तो इस पर विश्वास है कि जो बात उनके सामने बनती है। कौनसी चीज मिला देनेसे क्या बनता है? जो यों प्रत्यक्ष देखता हो और जिसका अपने वैज्ञानिक प्रयोगसे यह सारा ज्ञान बना हो, उसके चित्तमें बाबा वाक्य जैसी बात नहीं उतर सकती। वह तो प्रयोग करके देखेगा। यह जैन सिद्धान्त पुष्कल व्यवस्थित है। प्रत्येक द्रव्य अनादिसे है और स्वभावके विपरीत यदि यह परिणमता है तो किसी परका निमित्त पाकर परिणमता है। कोई विपरीत संग न मिले तो प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वाभाविक है। जैसा उसका स्वभाव है वैसा ही उसका परिणमन चलेगा। यह काल अनादि है और यह जीव भी अनादि है और यह संसारसागर भी अनादि है, अनन्त भी है। कोई मुक्ति चले जायें, पर संसार तो नहीं मिटता, वह तो अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा।

भैया! कोई मनचले तो यह कहने लगते हैं कि हम अगर व्रत करें, संयम करें, अच्छी तरह रहें या ब्रह्मचर्यसे रहें तो फिर यह संसार कैसे चलेगा? उनको बहुत फिकर हो जाती है। सो वे तो मानों जगत् पर दया करके पाप करते हैं। अरे उनके व्रत अव्रत करने से कहीं संसार बंद नहीं हो जाता, यह उनका कलुषित आशय है। कोई जीव मुक्त होता है तो उसके मुक्त हो जानेसे संसार खाली नहीं होता। यह संसार अनादि अनन्त है। सो इस संसारमें भ्रमण करते हुए जीवने और बातें सब पायीं किन्तु दो बातें नहीं पायीं। एक तो वीतराग प्रभुका मिलना और एक सम्यग्दर्शन का होना। दो चीजें इस जीवने नहीं पायीं और तो सब पाया। बाह्य पुद्गलोंका ठाठ वैभवका मिल जाना, यह सब क्या मूल्य रखता है? यह जीव अनादि कालसे संसारसागरमें भ्रमता हुआ इन दो चीजोंको नहीं पा रहा है।

काल, जीव और शरीर—तीनों ही अनादिकालसे चले आए हैं। सो इस संसारसमुद्रमें अनादिसे ही भटकते आ रहे हैं जीव। इस जीवने दो चीजें नहीं पायीं—जिनेन्द्रदेव और सम्यग्दर्शन। क्यों नहीं पाया कि अपने शुद्ध आत्माकी भावनासे यह भ्रष्ट रहा, मिथ्यात्व रागादिक विभावोंके आधीन रहा, परकी दृष्टि रही, जिसको परकी दृष्टि है उसके सामने जिनेन्द्र प्रभु भी हों तो भी उसके लिए जिनेन्द्र नहीं है। जो भगवान् को समझता हो उसके लिए भगवान् है और जो भगवान्का स्वरूप ही नहीं समझता उसके सामने भगवान् भी हो तो कहां भगवान् है? जैसे किसीके हाथमें भी रत्न

हो और जानता हो कि यह तो कांच है तो उसके अन्दर ठसक या गौरव या महत्ता आ नहीं सकती। भले ही हाथमें, मुट्ठीमें रत्न लिए है, पर वह तो नहीं जानता। वह तो कांच जानता है। सो कांच समझनेके कारण उसमें गौरव नहीं रह सकता।

भैया! भगवान्को भी कब समझा जाय, जब निज शुद्ध आत्माका स्वरूप समझ लिया जाय। तो यह जीव अनादिकालसे मिथ्यात्व रागादिक भावोंके बंधनमें पड़कर अपने शुद्ध आत्माकी भावनासे च्युत हो गया है। इसी कारण इसने दो चीजें नहीं पायीं—एक तो परम आराध्यदेव जिसके क्षुधा आदिक १८ दोष नहीं रहे और दूसरी चीज सम्यक्त्व नहीं पाया, हम किसी नाम वाले को नहीं पूजते, किन्तु जिसमें ऐसे गुण हों वही हमारा देव है, नामसे रंच प्रयोजन नहीं है, स्वरूपसे प्रयोजन है। जिनसिद्धान्तमें स्वरूपकी पूजा है, नामकी पूजा नहीं है। हुए हैं ऋषभदेव होने दो, सभीके लड़के होते हैं। ऋषभदेवके नातेसे उनको हम नहीं पूजते हैं, किन्तु ऋषभदेव के भवमें उस आत्माको बड़ी विशुद्धि उत्पन्न हुई, सो हम तो आत्मस्वरूपको पूजते हैं, ऋषभदेवको नहीं पूजते हैं। नामकी पूजा नहीं है पर ऋषभदेव नामके महापुरुष सिद्ध हो गए। उस सिद्धस्वरूपके नाते हम व्यवहारमें नाम लेकर पूजते हैं, पर नामकी पूजा नहीं है।

भैया! यदि नामकी पूजा हो तो जिस बच्चेका नाम ऋषभ धर दो उसी को पूजो। पारसनाथ किसी बच्चेका नाम रख दो उसी को पूजो। नामकी पूजा नहीं है, स्वरूपकी पूजा है। जो अनन्त ज्ञानादिक चतुष्टयसे सम्पन्न है, जिसे भूख, प्यास, रागद्वेष, जन्म, मरण, शोक, मोह, निंदा, कोई भी दोष नहीं है, ऐसा जो निर्दोष स्वस्थ ज्ञानघन आत्मा है वह परमात्मा जिन इन जीवोंको प्राप्त नहीं हुआ, वही परम आराध्य शिवतत्त्व है। एक तो वीतराग भाव न मिला और दूसरे सम्यक्त्व न मिला। न वीतराग सम्यक्त्व मिला और न भली प्रकारसे व्यवहार सम्यक्त्व मिला कि वीतराग सर्वज्ञदेवने जिस द्रव्य, गुण, पर्यायका वर्णन किया है, जो धर्म बताया उसी प्रकारसे उसकी श्रद्धा रहे, इस रूप सराग सम्यक्त्व भी नहीं प्राप्त हुआ। सो सम्यक्त्व बड़ी दुर्लभ वस्तु है। अब शुद्धआत्माके सम्वेदनका साधक जो तपश्चरण है उसका विरोधी जो गृह निवास है, उस गृहनिवास का दूषण बताते हैं।

घरवासउ मा जाणि जिय दुक्किय वासउ एहु।
पासु कयंतें मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥१४४॥

हे जीव! तू गृहवासको गृहवास मत जान, वह तो दुष्कृत वास है,

पापका निवास है, यमका पाश है। पाश मायने जाल। अज्ञानी जीवको बांधने के लिए कालने मंडित मजबूत जाल बनाया है, बंदी खाना बनाया है, इसमें संदेह नहीं है। तभी तो सोचलो भैया! घरसे निकलना कितना कठिन होता है? परेशान भी हो रहे हैं, दुःखी भी हो रहे हैं, फिर भी नहीं निकल पाते हैं, ममता नहीं छूटती। कितनी कठिनाई अनुभव कर रहे हैं? छोड़ना चाहते छूटता नहीं, तो यह जालकी तरह ही तो हो गया, बंदीखाना बन गया।

सो भैया! चाहे परिस्थितिके कारण न भी छूटे, पर अपने उपयोगमें ममता तो न रहे। यह तो अपने परिणामोंकी बात है ना, वह भी छूटना कठिन है। यह जो गृहवास है, घर वास है-- घर बोलो या स्त्री बोलो— स्त्रीको ही घर बोलते हैं। लोकव्यवहारमें जैसे पूछते हैं कि आपके घरसे भी कुशल है ना, तो इसके मायने यह नहीं कि घरकी अलमारीका कांच तो नहीं फूटा। उसने तो यह पूछा कि आपकी स्त्री कुशलपूर्वक है ना, तो जैसे पुरुषके लिए घर स्त्री है, इसी तरह स्त्रीके लिए पुरुष घर है, तो घर कहते ही हैं स्त्रीको। घर बोलो, गृहणी बोलो एक बात है। घरका नाम घर नहीं।

ईंटोंके घरसे किसे मूलतः ममत्व होता है? जितना भी ममत्वका प्रसार है उन सबका मूल स्त्री है, नहीं तो बच्चा २० वर्षका हो गया, १८ वर्ष का हो गया, स्वतन्त्र है। जहां उसका विवाह हुआ इसके बादमें कमाईकी उसे चिंता हुई, विशेष कमाईकी, फिर परिवार बढ़ा तो और और प्रकारकी चिंताएं आ गयीं। उन बच्चोंमें जो राग बढ़ता है, अनुराग बढ़ता है उसमें वह अंधा हो जाता है, फिर प्रभुस्वरूपका उसे भान नहीं रह पाता है। तो इस तरह इस घरवासको घरवास मत जानों, किन्तु यह समस्त दुष्कृतोंका पापोंका वास है। अज्ञानी जीवके बांधनेके लिए यह जाल मढ़ा गया है। किसने यह जाल मढ़ दिया? कर्मोंने, कालने।

कैसा है यह पाश? अविचल है, बड़ा मजबूत है, क्योंकि इसमें मोह बन्धनकी गांठ बड़ी तेज लगी हुई है। मरने पर तो सब कुछ छूटना ही है। यहां का तो सब छूट जागगा, अगले भवमें और नया मिलेगा, पर मरने पर यहांका भव छूट जायगा। अगले भवमें नया मिलेगा, यह पुराना हो जाने वाला भव उसका छूट जायगा। पुराना हो जाने पर थोड़ा उससे मोह कम हो जाता है। सो उस नये भवके मिलने पर उसका मोह नया विषय पाकर और बढ़ जायगा। पुराना भव हो जाने पर उससे मोह कम न हो यह भी हो सकता है। जैसे नया सम्बन्ध होने पर मोह अधिक रहता है और जो १० वर्ष हो गया, पुराना हो गये, फिर लड़ाई शुरू हो जाती है, उतना राग नहीं

नहीं रहता है। और सभ्यतापूर्ण घर न हुआ तो एकदम असभ्यताका नाच होने लगता है, डंडे चलते हैं, खोटे वादविवाद होने लगते हैं। तो यह मोहपरिणामका इतना जबरदस्त बन्धन है कि छोड़ा नहीं जाता। कभी घरमें लड़ाई भी हो, द्वेष भी हो जाय, प्रेम भी न रहे, तिस पर भी मोह नहीं छूटता।

अहो ! वे धन्य महाभागी हैं जो पाये हुए समागमोंमें भी मोह नहीं करते और उसको त्याग देते हैं। यहां यह बात जाननी कि यह जो मन है, यह कषाय और इन्द्रिय विषयोंके कारण व्याकुल हो गया है। कहां तो आत्माका शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव था, परमात्मपदार्थ था। उसकी भावना का प्रतिपक्षभूत कषाय और इन्द्रिय विरोधी हैं। जैसे भले घरमें डाकू घुस जायें और अशान्तवातावरण बनादें, इसी तरह इस ज्ञानमय परमात्म पदार्थ में विषय और कषायके डाकू घुस गए और अशान्त वातावरण बना रहे हैं। सो कदाचित् कुछ थोड़ा बहुत कहने सुननेमें समझमें आ जाय तो कहते भी जाते कि मोह करना पाप है और मोह करते भी जाते हैं।

जैसे घरमें कोई चौधरी अपने लड़केको शिक्षा दे रहा था कि बेटा हुक्का पीना खराब होता है, हुक्का पीनेसे पेटमें खराबी हो जाती है। इस प्रकारसे वह अपने लड़केको शिक्षा भी देता जाता और अपना गुड़ गुड़कर हुक्का पीता भी जाता। अब तो मर गए चौधरी साहब। बेटाके भी बेटा हो गए, सो वह भी हुक्का पीता जाय और अपने बेटेको उसी तरह की शिक्षा देता जाय। कोई समझदार बुजुर्गने पूछा कि तुम्हारे पिता तो तुम्हें बहुत शिक्षा देते थे कि हुक्का पीना खराब होता है, पर तुमने हुक्का पीना नहीं छोड़ा। वह जवाब देता है कि पिताजी यही शिक्षा दे गए हैं कि हुक्का पीनेकी विधि यही है कि दूसरेसे कहते जावो और खुद पीते जावो। जो विधि वे करते थे, वही विधि हम भी कर रहे हैं। त्याग कितनी कठिन चीज है।

भैया ! ज्ञानाभ्यास बिना फर्क अपने रागद्वेष मोहमें नहीं आता है, सो ज्ञानाभ्यास चाहिए। आयुके क्षण तो दमादम गुजर ही रहे हैं, पर कुछ समय गृहव्यापारसे, आरम्भसे, परिग्रहसे दूर होकर सत्संगमें रहकर या एकांतमें बसकर समय देना चाहिए। और कोई सोचे कि क्या जरूरत है ? बड़ा वैभव है, परिग्रह है, खूब आराम है, आय है, अब क्या आवश्यकता है ? अरे ! जीव-जीव सब एक समान हैं। आज तो उदय है, ठीक है, और उदय ठीक बना रहे इस लायक नहीं हैं तो उदय तो फिर पापका ही आने वाला है। सो यह प्रत्येक कल्याणार्थीका यह कर्तव्य है कि अपना

बहुतसा समय ज्ञान ध्यानके लिए देवे। और किसीमें ऐसी रुचि जग जाय जैसे कि आय रोजगार और दुकानके आगे धर्मके लिए टाइम नहीं मिलता, धर्मकी बात आने पर आज तो समय नहीं है, आज अमुक काम है, बजाय इसके ऐसी आदत हो जाये और आवश्यकता महसूस हो जाय कि आज तो दुकानके लिए केवल इतना ही टाइम है, आज विशेष अवसर नहीं है। साधु त्यागी आये हैं, विद्वानोंका उपदेश होगा, आज तो दुकानसे ज्यादा समय धर्मके लिए देना है, ऐसी बात आए तो ज्यादा भली है।

सो इन विषय और कषायोंने मनको व्याकुल बना दिया है। तो मनकी शुद्धि जब नहीं रही तो जैसे उन गृहस्थजनोंको शुद्ध आत्माकी भावना नहीं हो पाती, वैसे ही ये यति भी यदि व्याकुल चित्त हो जायें तो शुद्ध आत्मा की भावना उनके भी नहीं बनती। दोनों ही जगह अशुद्धतामें एक बात है, फिर भी चूँकि गृहस्थोंको आरम्भ परिग्रह, विषय कषायोंका प्रसंग अधिक है। इसलिए गृहस्थोंको सम्बोधते हुए कहा गया है कि जैसे तपस्वीजन शुद्धआत्माकी भावनामें स्थिर हो सकते हैं वैसे गृहस्थ नहीं स्थिर हो सकते हैं। यह मन दुष्ट विषय और कषायोंसे व्याकुलित हो गया है। इस कारण गृहस्थजनों के द्वारा शुद्ध आत्माकी भावनाकी जाना बहुत अशक्य है। इस तरह गृहवासके निषेधमें यह शिक्षा दी है कि जो घरमें रहता है वह वहां रहता हुआ भी विरक्त रहे और तपस्वी जन छोड़े हुए घरका स्मरण न करें। घरकी ममता त्यागनेके बाद अब देहकी ममता त्यागनेका वर्णन करते हैं।

देहुवि जित्थुण अप्पणउ तहिं अप्पणउ किं अण्णु।
पर कारणि मण गुरुव तुहुं सिवसंगमु अवगण्णु ॥१४५॥

यह शरीर भी जब अपना नहीं है तो फिर अन्य क्या अपना हो सकता है? इस कारण मुक्तिके संगमको छोड़कर पुत्रादिकमें तू मोहको मत कर। यह देह भी अपना नहीं है क्योंकि देह पुद्गल है--रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड है, इस चेतनसे भिन्न है। तो जब देह भी अपना नहीं है तो अन्य पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं, ऐसा जानकर अन्य पदार्थोंका ममत्त्व छोड़ो और देहका भी ममत्त्व छोड़ो। इस देहके विभावके साथ वस्त्र, आभूषण, उपकरण इनका ग्रहण करना। कहते हैं कि इनको क्यों ग्रहण करते हो? इनके ग्रहणके निमित्तसे तुम शुद्ध आत्माकी भावना का त्याग मत करो। शुद्ध आत्माका अर्थ है केवल जाननरूप परिणमा हुआ आत्मा।

यह देह अपने शुद्ध आत्माके साथ एकरूप होकर ठहर रहा है। आत्मा अमूर्तिक है, वीतराग स्वभावरूप है, ऐसे शुद्ध आत्माके साथ दूध पानीकी तरह एक होकर ठहर रहा है। फिर भी यह जो देह है वह जीवका

स्वरूप नहीं है। भले ही एक स्थानमें जीव और देह दोनों ठहर रहे हों, पर जीव, जीव ही है और देह-देह ही है। निज क्षेत्रकी अपेक्षा तो अब भी जीव और देह जुदे जुदे क्षेत्रमें हैं—ऐसा जानकर बाहरी पदार्थोंमें ममत्वको त्याग दो और शुद्ध आत्माके अनुभवमें अपनी निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर सर्वतत्परताके साथ अपने आत्माकी भावना करो। देह जो है वह आते जाते अनेक पुद्गल परमाणुवोंका समूह है। इस देहमें अज्ञानी जीवको आत्मबुद्धि होती है।

इस देहमें आत्मबुद्धि होनेका एक कारण यह भी है कि अपना स्वरूप तो इसके परिचयमें आया नहीं और बाहरमें इसकी दृष्टि है। सो इसे आंखों देखते हैं कि अपना बहुत निकटसम्बन्धी यह शरीर है। इस शरीरमें समान आकृति है अर्थात् जैसा कल था वैसा आज है, वर्षोंसे है। न शकल बदलती है और न कोई अंगहीन अधिक होता है। अपने आप इसमें कुछ विलक्षण विषमता नहीं आती है। सो स्थिर जैसा लग रहा है। सो स्थिर जानकर आत्माकी बुद्धि हो गई कि यह शरीर मैं हूं, और जब शरीरमें दृष्टि लग गयी कि यह मैं हूं तो जो अपना सहजस्वरूप है, शुद्धात्मतत्त्व है उसकी ही भावना कहांसे जगे? शुद्ध आत्माकी भावनाका जगाना श्रेयस्कर है। और देहमें आत्मबुद्धिका बनाना श्रेयस्कर नहीं है। सो सर्वप्रयत्नोंके द्वारा एक अपने शुद्ध आत्माकी भावना करो। अब इसही अर्थको फिर प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं।

करि सिवसंगमु एक्कु पर जहिं पाविज्जइ सुक्खु।
जोइय अण्णु म चिंति तुहुं जेण ण लब्भइ मुक्खु ॥१४६॥

हे योगी! तू एक इस निज शुद्ध आत्माकी भावना कर, जिसमें अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। और कुछ चिंतन मत कर। ऐसे बाहरी पदार्थोंका क्यों ध्यान बनाता कि जिस ध्यानसे मोक्षमार्गमें बाधा आती हो। आत्मा आत्मस्वभावसे च्युत होता है—ऐसी भावना छोड़ो। यह शुद्ध आत्मा की भावनाका संग विलक्षण आनन्दको उत्पन्न करने वाली है। इस आनन्द-मय अवस्थाको शिव कहो, शुद्ध बुद्ध एकस्वभावी कहो। इस शुद्ध आत्माकी भावनासे ही जीवका कल्याण है। किसी परपदार्थको अपने चित्तमें बसाने से कल्याण नहीं है। हे योगी! ऐसा अनन्त सुख तेरा स्वभाव ही है। सो अपने स्वभावसे अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी चिंता मत कर। अपने आप में अपना जो सहज स्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है उसकी भावना बनाओ। अन्य पदार्थोंकी चिंता करनेसे लाभ नहीं है।

भैया! बाह्यपदार्थोंकी चिंतासे न बाह्य पदार्थ मिलते हैं, न आत्म-

पदार्थ मिलता है। दोनों ही हानि होती हैं। बाह्यकी चिंतामें बाह्य पदार्थ तो यों नहीं मिलते कि बाह्यकी चिंता करना पापका परिणाम है और पापका परिणाम करनेसे पुण्यका उदय बिखर जाता है, पापका उदय सामने आता है। सो बाह्यपदार्थोंकी चिंता करनेसे वे बाह्य पदार्थ और दूर हो जाते हैं, और आत्मा तो मिलता ही नहीं है, क्योंकि उस समय अन्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि है। कदाचित् जिन बाह्यपदार्थोंका चिंतन हो और वे मिल जायें तो यह समझना कि इससे भी अधिक पुण्यका उदय था, पर पाप कर लेनेसे, बाह्यपदार्थोंकी व्याशक्ति कर लेनेसे वह बड़ा लाभ टल कर एक अल्प लाभ मात्र रह गया। चिंतासे कुछ लाभ नहीं मिलता, किन्तु मोहके उदयमें चिंता ही तो हुआ करेगी। सर्वपदार्थोंका स्वतंत्र-स्वतंत्र भिन्नस्वरूप ज्ञात कर लेनेसे बाह्यपदार्थोंकी चिंता नहीं सताती। यह मोक्षव्यवहार धर्मकी चिंतासे नहीं मिलता क्योंकि मोक्ष नाम है जहां कोई बाधा नहीं है, शल्य नहीं है, विभाव नहीं है। आत्यंतिकी शुद्ध अवस्था है उसका ही नाम मोक्ष है, ऐसा यह मोक्ष बाह्यपदार्थोंकी चिंतासे प्राप्त नहीं होता है। अब यह बतलाते हैं कि यदि धर्म नहीं किया तो मनुष्यजन्म निःसार है।

बलि किउ माणुसजम्मडा देक्खंतहँ पर सारु।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ अह्ऽज्झइ तो छारु ॥१४७॥

यह मनुष्यजन्म निःसार है। इसको देखो तो कुछ देखनेमें सारसा लगता है। जब तक बाहरमें देख रहे हैं तब तक शरीरका रंग, सजावट और भरे हुए अंगोपांग सारसा दिखता है, पर छूकर देखो या विचार कर निरखो तो वहां सार कुछ नहीं नजर आता। मांस, खून, हड्डी ऐसी दुर्गन्धित चीजें ही बसी हैं।

भैया! ऐसे असार धातु उपाधातुसहित शरीर वाले मनुष्यजन्मको पाकर सार बात तो तब हो जब धर्मकी भावना हो। धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। यह भेदरूप और अभेदरूप है। भेदरूप रत्नत्रय में भगवान्के वचनों में श्रद्धा होना; देव, शास्त्र, गुरुमें प्रतीति होना—ये परिणाम होते हैं। और जीवादिक पदार्थ जैसा आगममें बताया गया है, इस प्रकारका ज्ञान होना और विषय-कषायके साधनोंका त्याग करना और अपने स्वभावधर्ममें लगने की कोशिश होना, यह सब भेदरत्नत्रय कहलाता है। अभेद रत्नत्रय एक वृत्तिरूप है, जिस परिणतिमें अखण्ड निजस्वभावकी रुचि है, उस ही की प्रतीति है, उस ही का अनुभव है।

भैया! अनुभवनके सम्बन्धमें अलगसे जानन नहीं मालूम होता, प्रतीतिका स्वरूप नहीं दिखता और रुचिका स्वरूप नहीं दिखता, किन्तु उस

अभेद आचरणके सम्बन्धमें रुचि और प्रतीति दोनों अन्तरमें गर्भित हैं। तो शुद्ध आत्माके स्वरूपकी रुचि होना, मैं ऐसा ही बनूँ, रहूं, इस प्रकारकी भावना होना और ऐसा ही ज्ञान होना—ये इसके आचरणके भीतर गर्भित हैं, क्योंकि आत्मस्वरूपमें रमण किए जानेका जो आचरण है वह श्रद्धा ज्ञान मूलक है। यदि अनुभवनके समय सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान न हो तो आचरण हो ही नहीं सकता था। तो आचरणके समयमें भी चूँकि वह निर्विकल्प अनुभव है सो श्रद्धाका और ज्ञानका कोई विकल्प नहीं उठता तिस पर भी श्रद्धा और ज्ञान दोनों ही उस अनुष्ठानमें गर्भित हैं। तो ऐसा भेदरत्नत्रयरूप और अभेदरत्नत्रयरूप धर्म न किया तो यह मनुष्यजन्म निःसार है।

यहां योगीन्दुदेव कह रहे हैं कि ऐसे जन्मकी मैं बलि-बलि करता हूं, मस्तकके ऊपर रखता हूं। मस्तकके ऊपर दो प्रकारकी चीजें धरी जाती हैं—या तो हितकारी हो या दुश्मन या बाधक हो। हाथ दो तरहके जोड़े जाते हैं—एक तो हाथमें हाथ तेज मारकर सीधा जोड़ दिया- भैया, हमने तुम्हारे हाथ जोड़े। तो वह भक्तिका हाथ जोड़ना नहीं हुआ, वह तो एक अपमान करनेका, पृथक् करने का हाथ जोड़ना है। और एक होता है भक्तिके हाथ जोड़ना।. जो निःसार मनुष्यजन्म बीत रहा है उसके हाथ जोड़ो ज्यादा जोरसे हाथ मारकर। ऐसे मनुष्यजन्मके दोनों हाथ जोरसे मारकर जोड़ते हैं जिस मनुष्यजन्मको पाकर भी धर्म न किया जाय। एक ऐसा हाथ जोड़ते हैं कि धन्य है वह मनुष्यजन्म जिसमें श्रेष्ठ मन मिलता है, वचनकी शक्ति मिलती है, योग्य शरीर मिलता है, जहां मनकी साधना भली प्रकार बन सकती है। इस दृष्टिसे यह मनुष्यजन्म हितार्थ देखा जाता है।

यहां तो जोरसे हाथ जोड़ रहे हैं कि ऐसे मनुष्यजन्मके मैं हाथ जोड़ूँ, जो देखने में तो सार लगता है, पर अपवित्रता दुर्गन्ध सभी इसीमें भरे हैं। यदि भूमिमें भी यह शरीर गाड़ दिया जाय तो सड़ करके दुर्गन्धरूप परिणम जायगा और जला दिया जाय तो राख हो जायगा। इस शरीरका होगा क्या अंतमें, सो बतलाया जा रहा है। दो ही तो बातें हैं—या गाड़ दिया जाय या जला दिया जाय, या तीसरी बात यह हो सकती है कि गाड़ने वाले भी न मिलें, जलाने वाले भी न मिलें तो ऐसा ही पड़ा रहे। सो तीनों ही हालतमें इस शरीरसे मिला क्या? गाड़ दिया तो जमीनमें सड़-सड़कर बदबू देने लगता है भीतर ही भीतर कीड़े पड़ जाते होंगे। जला दिया तो राख हो जाती है, और यों ही छोड़ दिया तो पक्षी खा जायेंगे। पानीमें छोड़ दिया तो पानीके जीव खा जायेंगे। मरने के बाद फिर कुछ भी

इस देहका करो, उससे कुछ तत्त्व नहीं निकलता।

भैया ! मरने के बाद देहको धर्मबुद्धिसे चाहे गंगामें बहा दो, पर गंगा में बहानेसे उस आत्माको धर्म नहीं लग जायगा। जो आत्मा देह छोड़कर चला गया उसके लिए अब कुछ भी करो, व्यर्थ है। पर ममता ऐसी देहकी होती है कि लोग मरने के पहिले ही अपनी व्यवस्था बना लेते हैं। ऐसे ले जाना, गंगामें सिरवा देना या अन्तमुहूर्तमें ही जला देना। समूह जोड़ लेना, सबको बुला लेना तब जलाना। और पता नहीं, चाहे कोई ऐसा भी कर लेते हों कि मरनेके बाद लड़के पंगत करें अथवा नहीं, सो अपनी जिन्दावस्था में ही तेरहवीं आदि कर लेते हैं। तो ऐसा तीव्र मोह इस शरीरसे है कि अपने भवमरणकी पंगत जीवनमें ही करा लेते हैं। अरे ! मरनेके बाद शरीर का कुछ भी हो, जले, गड़े, सरे, पर उससे इस जीवका कुछ फर्क नहीं होता।

मरनेके बाद घरके लोग उसके नामपर दान भी कर दें तो उसका कोई अंश धर्मका, पुण्यका उस मरे जीवके साथ नहीं जाता। ये पुण्य और पाप तो अपने परिणामोंसे बनते हैं। मरनेके बाद जहां जीव जायगा वह जैसा परिणाम करे वैसा उसके बाद बनेगा, पर यहां के लोग उसके नाम पर चाहे दान दें, कुछ करें उसका कुछ अंश नहीं पहुंचता। चाहे दान दें और चाहे श्राद्ध करें, चाहे पंडोंको घाट पर जिमायें, खाट दें, गायें दें ताकि बाबा जी अच्छी तरहसे सोवेंगे या दूध पियेंगे, पर इन बातोंसे कुछ नहीं उठता। वह तो सब परिणामोंसे सम्बन्ध रखता है। अपने परिणामोंमें निर्मलता हो तो धर्म है, पुण्य होता है। सो जितना जो कुछ करना है, सो अपने जीवित रहते होस हवासकी हालतमें करलो, वह तो काम आयगा, और दूसरोंकी क्या आशा रखना ?

दूसरे कोई मेरे पुण्य पापमें शामिल नहीं हो सकते। जो पाप करे सो अकेले, जो पुण्य करे सो अकेले। सो इस देहको पाकर यदि धर्मसाधना न किया तो यह देह निःसार है। कैसे ? किसीका भी देह देखलो, क्या सार है ? हाथीका शरीर है उसमें तो कुछ सार मिलता है। लौकिक दृष्टिसे उसके दांतोंसे चाकू आदि बनते हैं, उसीके दांतोंसे शृङ्गारकी तमाम चीजें बनती हैं। एक चमरीगाय होती है उसके शरीरमें जो पूँछ होती है उसका चँवर बरातकी शोभाके लिये बनता है तो लौकिक दृष्टिसे उसमें तो कुछ सार नजर आया। तो तिर्यञ्चोंके शरीरमें तो कुछ सार नजर आता है, पर मनुष्योंके शरीरमें क्या सार नजर आता है ? जलाया जाय, गड़ाया जाय। मरने के बाद भी कुछ खर्च करना पड़ता, जलावो तो कमसे कम पचास रुपये तो खर्च होंगे ही। गाड़ो तो भी खर्च। मरने के बाद देहको कोई नहीं रखता है।

भैया ! इस देहमें कोई सार नजर नहीं आता। यह साररहित देह है। तो फिर करना क्या है ? ऐसा करें कि जिससे परलोक अच्छा बने। जैसे गन्ना होता है, वह यदि कीड़ों और घुनोंके द्वारा खाया गया है, जिसे कहते हैं कि इसमें कीड़े लग गए हैं, उसमें कुछ लाल लालसा हो जाता है। तो कीड़ा लगा हुआ जो गन्ना है उसको खानेमें सार नहीं है, खाने से व्यर्थ जायगा, मुँह खराव हो गया, गन्ना भी खराब कर दिया। ५-७ पैसेका लाये थे, वे वैसे भी बरबाद कर दिये। तब फिर क्या करना है कि उसको जमीनमें बोदो तो उस गन्ने से पेड़ पैदा होंगे और उन्हें फिर चूसो। तो जैसे घुन लगे हुए गन्नोंका उपयोग बो देना है, उसे बीज बना देना है, इसी तरह निःसार इस शरीरका उपयोग परलोकका बीज बना देना है, सो निःसार होकर भी इस शरीरको सारभूत किया जा सकता है। जैसे कीड़ा लगे गन्नेको बोकर बीज बना देने से अच्छी ईखका लाभ होता है इसी प्रकार इस निःसार शरीरमें बसते हुए, जीवित रहते हुए अपने रत्नत्रय की भावना बनायी जाय, जो रत्नत्रय अपने आत्माके सहजस्वरूपके श्रद्धान् रूप, ज्ञानरूप और इस ही स्वरूपमें रमण करने रूप है, उस रत्नत्रयकी भावना बनायी जाय तो उसके फलसे और भेदरत्नत्रयका साधक जो व्यवहाररत्नत्रय है, उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग और मोक्षका फल प्राप्त किया जाता है।

यह आत्मस्वभाव कैसा है ? वीतराग सहजानन्द स्वरूप है। सो इस मनुष्यभवको सार बना देने का उपाय धर्मधारण करना है। एक धर्म भर न हो तो फिर इसकी कोई शोभा नहीं है। किसी मनुष्यमें यदि क्रोध बसा हो, अहंकारकी प्रवृत्ति हो तो उसके कोई शोभा नहीं जंचती, और कोई पुरुष बड़ी शांतिसे बैठा हो। शांतिकी प्रवृत्ति करता हो तो उसकी शोभा छवि बढ़ जाती है। तो इस लोकमें भी व्यवहारके योग्य यदि धर्म पाया जाता है तो उससे शोभा बढ़ती है। फिर अलौकिक कार्य करनेके प्रसंगमें तो धर्म बिना कोई भी श्रृङ्गार शोभा नहीं देता है, निःसार है। कोई मनुष्य हिंसा करता हो, झूठ बोलता हो, चोरी करता हो, परस्त्रीगामी हो, तृष्णा करता हो तो वह किसीको सुहायेगा क्या ? अच्छा रूप रंग भी है, शकल भी ठीक है, धर्मकी प्रवृत्ति न हो तो वह किसीको सुहायेगा क्या ? वह मनुष्य किसीको भी नहीं सुहा सकता है।

भैया ! कोई बड़ी शांतिसे बैठा हो, दो वर्षका बच्चा भी यदि शांतमुद्रा में बैठा हो तो वह भी सुहावना लगता है, तो सुहावना लगनेका कारण तो धर्म है। धर्मसे ही शोभा है। इस कारण इस निःसार मनुष्यजन्ममें एक धर्म

की प्रकृति बनाकर इसे सारभूत बनाओ, इससे स्वर्गका और मोक्षका फल प्राप्त होगा। शुद्ध और निर्दोष धर्ममय जीवन व्यतीत करने से इस लोकमें भी तरक्की है और परलोकमें भी तरक्की है। समस्त उन्नतियोंका मूल कारण तो धर्मसेवन है—ऐसा जानकर सर्व उपायोंसे, सर्वपुरुषार्थोंसे अपने जीवनको धर्ममय बनाओ। अब इसके बादमें यह वर्णन किया जायगा कि यह देह कैसा है ? ६ दोहोंमें वर्णन चलेगा कि इस देहमें क्या क्या ऐब हैं ?

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार।
देहहँ सयल णिरत्थगय जिमु हुज्जणि उवयार ॥१४८॥

शरीरमें उबटन करना, तैल लगाना, शृङ्गार आदिसे सजाना, अच्छा मीठा आहार लेना—ये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। जैसे दुर्जनोंका उपकार करें तो वह व्यर्थ है वैसे ही शरीरकी कुछ भी सेवा कर डालो वह व्यर्थ है। भले ही अपना स्वास्थ्य रखने के लिए यथायोग्य कुछ शरीरसेवा करनी पड़ती है पर मोही जीव स्वास्थ्य रखनेकी दृष्टिसे नहीं करते हैं, किन्तु यह मैं हूं, इसे मुझे बढ़िया बनाना है—ऐसी दृष्टि करता है। सो दुर्जनोंका कितना ही उपकार करो सब व्यर्थ है। अंतमें वे विपत्ति ही देंगे। सांपको दूध पिलावो तो वह विष ही उगलता है, अमृत नहीं उगल सकता है।

यद्यपि यह शरीर अस्थिर है तो भी कुछ थोड़ी ग्रास देकर इस अस्थिर शरीरके निमित्तसे स्थिर जो मोक्षके सुखका उपाय है सो करलो। शरीर तो मिटेगा ही। अब जितनी जल्दी बने, किसी उपायसे स्थिर जो मोक्षका पद है उसका अनुभव जितना हो सके करलो। नहीं करते हो तो दिन प्रतिदिन यह बिगड़ ही रहा है। मृत्युके निकट पहुंच रहे हैं। अब भी चेतलो।

यहां ज्ञानी पुरुष भी कभी देहरक्षाके लिये ग्रास लेते हैं, कहते हैं ग्रास, और ग्राससे ही मिलता जुलता है घास। और इंगलिशमें जो ग्रास बोलते हैं उसका भी अर्थ है घास। तो जैसे गाय भैंस घास खाते हैं, वैसे ही अपना पेट भरने के लिए तुम भी थोड़ी ग्रास खाकर अपना पेट भरलो। खूब सज धज कर खाते रहने से ही क्या होता है ? खूब सजे धजे कोई बैठा है, नाक बह गयी तो कितना ही साबुन लगावो, तैल लगावो, वह गंदा ही है। तो तेल लगाना, साबुन लगाना क्या है ? वह तो जितना जो कुछ जिस पद में है, जितना आवश्यक है, वह तो वैसे तो ज्ञानो जीवके ओढ़ना पहिनना सहज बनता है। महात्मा गांधीका चित्र देखा होगा कि कमीजसी पहिना करते थे, उसमें भी बटन टूटी है, नहीं भी लगी है, कैसी ही हो—एक देहाती आदमी जैसी एक टोपी लगा लिया, ऐसा फोटो है। क्या कारण था ? तो

जिसको धुन है सेवाकी, बड़े कामकी, उसको शरीरके सजाने, श्रृङ्गार करने का भाव नहीं रहता है।

यह शरीर सप्तधातुमय है, अपवित्र है। इस अपवित्र शरीरके निमित्त से भी यदि पवित्रभूत शुद्ध आत्माके स्वरूपके ग्रहणका उपाय बन जाय तो करलो इस निर्गुण शरीरसे। जिसमें कुछ गुण नहीं है, अवगुण ही सारे भरे हैं। ऐसे इस निर्गुण शरीरसे वह केवलज्ञानादिक गुणोंका समूह साध लिया जाय तो वह उत्तम है। अन्यथा शरीर तो शरीर ही है। उर्दूमें बोलते हैं शरीर जिसका अर्थ है बदमाश, चालाक। उसका विरोधी शब्द है शरीफ इस शरीरकी सेवा करना, पालन पोषण करना यह सब व्यर्थ है। आखिर यह शरीर दुःखका ही कारण बनता है। वैसे तो शरीर सर्वदुःखोंका निमित्त है। व्याधि हो जाना, अपना ही शरीर अपने को बोझल हो जाना और मान लो चंगा भी शरीर हो, रूपवान् भी हो, तगड़ा भी हो, और यदि अहंकार बनाकर, राग बनाकर, आशक्ति बनाकर मैं बड़ा सुन्दर हूं, बड़ा सुहावना हूं, ऐसा भाव बनाकर वह अपने स्वरूपसे दूर हुआ जा रहा है, यह क्या कम दुःखकी बात है?

भैया! ये सारे दुःख इस शरीरके ही कारण हैं। ऐसा जानकर इस विनाशीक अशुचि शरीरके द्वारा यदि कोई अविनाशी पवित्र काम किया जा सकता हो तो करलो। यद्यपि शरीरके द्वारा आत्मस्वरूपका काम नहीं बनता, किन्तु यह जीव शरीरमें तो अनादिसे फँसा हुआ है। यदि किसी शरीरमें रहते हुए इस जीवको आत्मसाधनाके लिए अवसर मिलता है तो वह है मनुष्यभवका शरीर। इस अस्थिर शरीरके द्वारा यदि कोई स्थिर काम होता है, मलिन शरीरके द्वारा यदि कोई निर्मल काम होता है, इस निर्गुण शरीरके द्वारा यदि कोई सारभूत गुणोंकी सिद्धि होती है तो कहते हैं कि क्या वह काम कर न लेना चाहिए? अवश्य कर लेना चाहिए। खोटा पैसा देकर यदि कोई बढ़िया चीज मिली जाती है तो ये लौकिक चतुर पुरुष उस अवसरको नहीं चूकते। तो इस खोटे शरीरके द्वारा यदि कोई स्थिर सारभूत वाला कार्य बनता है तो जो चतुर पुरुष है, ज्ञानी पुरुष है वह इस अवसरको नहीं चूकता है। अब इस शरीरके ही सम्बन्धमें और भी उपदेश आचार्यदेव दे रहे हैं।

जेहउ जज्जरु णरयघरु तेहइ जोइय काउ।
णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥१४६॥

हे योगी! जैसा जर्जर सैंकड़ों छेद वाला नरक घर है वैसा ही यह काय है। नरकमें अतीव दुर्गन्ध है, सो मल मूत्रादिक अशुचि पदार्थ इस

शरीरमें भरे हुए हैं तो ऐसे शरीरसे क्या प्रीति करना ? किसी भी तरह हो शरीर से प्रीति करना योग्य नहीं है। जैसे नरककी भूमि सैंकड़ों बिलोंसे छिदी भिदी है, इसी तरह यह शरीररूपी घर भी कितने ही छेदोंसे छिदा भिदा है। यदि इस मुखके आकार पर चमड़ा न देखा जाय, मांस न देखा जाय, जैसा यह भीतरमें पड़ा हुआ है वैसा ही यदि देखा जाय तो बहुत ही भयानक दृष्टिमें आयेगा।

नरकमें जो भूमि नारकियों के निवास की है, वह ऐसी नहीं है जैसे मकान बन जाय या कुछ हुआ करे। तो फिर कैसी है ? सो सुनिये जैसे कोई १ फिट लम्बा चौड़ा मोटा काठ है उसको तो मानलो कि एक पृथ्वी है और उस काठके भीतरमें ही ऐसे १०—२० जगह छेद हों कि जिनका मुख बाहरसे नहीं है और न यह अंदाज भी कर सकते हैं कि इस काठके भीतर पोल है, छेद है ? ऐसे भी काठ होते हैं कि जिन्हें बाहरसे कोई नहीं जान सकता कि इसमें छेद है पर भीतर छेद रहते हैं। जैसे उस मोटे काठमें बाहरसे मुख नहीं है और भीतरसे अनेक छिद्र हैं, इसी तरह एक मोटी भूमि जिसमें चारों ओरसे कहीं जानेका रास्ता नहीं है, मगर उस भूमिके भीतरमें ऐसे अनगिनते बड़े-बड़े छेद हैं जिन्हें बिल कहते हैं--और वे बिल हजारों लाखों, करोड़ों कोसोंके लम्बे चौड़े हैं। उन घरोंमें ही नारकियोंका निवास स्थान हैं। तो जैसे नारकियोंकी नरकभूमिमें अनेक बिल हैं, इसी तरह इस शरीरमें भी छोटे बड़े अनेकों छिद्र हैं।

देखो भैया ! चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, ईसाइ हो, वैष्णव हो, जैन हो, सबके शरीरका ढांचा एकसा, मरण एकसा, सुखी दुःखी होनेकी जो पद्धति है वह एकसी है। आखिर राग और मोहका ही तो दुःख होता है, वे राग करते हैं और मोह करते हैं। सभी लोग करते हैं। सारी परम्परा एकसी बनी हुई है। यह सब शरीर एक नरक तुल्य है, पर ऐसा पर्दा ज्ञान पर छाया है दुर्भावोंका, मोहका कि ऐसा अपवित्र शरीर है कि जहां परीक्षा करके देखो तो अपवित्र ही चीजें नजर आती हैं। कैसा ही सुन्दर रूप हो और कहीं फोड़ा हो जाय, पक जाय, पीप निकल आये तो उसे कोई देख नहीं सकता। मुख मोड़ लेता है। अरे वही तो शरीर है जिसको देखकर इतराते थे। आज क्यों मुख मोड़ा जा रहा है ? तो यह शरीर दुर्गन्धित चीजोंसे भरा हुआ है। जैसे नरक घरमें अनेक छिद्र हैं, इसी प्रकार हे योगी ! यह काय भी अनेक छिद्रोंसे युक्त है, मल, मूत्रादिकसे भरा हुआ है। इसमें किस प्रकारसे अनुराग किया जाय ?

जैसे नरकका घर सैकड़ों जगहसे जीर्ण है, इसी प्रकार यह कायका

घर भी जीर्ण है। बड़े-बड़े तो ये ९ छिद्र हैं, पर जितने रोंगटे इस शरीरमें हैं वे सब छेद हैं। नाना दोषोंसे भरा हुआ यह शरीर है और इस शरीरके भीतर रहने वाला प्राणी भी प्रायः ऐसा ही दोषी है, मलिन है, नहीं तो यह शरीर क्यों मिलता? प्रथम तो जो शरीर मिला है उसमें रहने वाला आत्मा रागी, द्वेषी मोही है, तब तो यह शरीर मिला है, और फिर एक बात और है। प्रायः करके जो शरीर गंदा है उस शरीरका आत्मा भी वैसा ही गंदा होता है। यह यद्यपि पूरा नियम नहीं बना रहे हैं। कोई देखनेमें बदसूरत भी होते हैं, पर आत्मा उत्तम परिणाम वाला होता है। पर प्रायः करके देखो कि पुण्यके अनुकूल शरीर अच्छा मिलता है ना, सो जिसके पापका उदय है उसे शरीर कैसे सुहावना मिलेगा? जिसका मलिन स्वरूप है वह किसे सुहायेगा?

तिर्यञ्चों में हिरण हाथी घोड़े जैसे कुछ को छोड़कर बाकीके शरीर देखो – कैसा थूथर है? मगरमच्छोंका शरीर देखो। विचित्र-विचित्र जंगलके जानवर जो अजायबघरमें देखनेको मिलते हैं, मुश्किलसे पता चलता है कि उनका मुख किधर है? कैसे-कैसे विचित्र शरीर हैं। ये सब जीवोंके जैसे-जैसे पापकर्म हैं, जैसा-जैसा उदय है उसके अनुसार वैसी-वैसी रचना है। एक परमात्मस्वरूप जन्म, जरा, मरण आदि सब दोषोंसे रहित है। जैसे इस शरीरमें बहुतसे छिद्र हैं इसी तरहसे शरीरमें रहने वाला जो आत्मा है, उस में भी बहुतसे छिद्र हैं। वे विभावोंके, रागद्वेषों के छिद्र हैं।

आश्रवके लिए आगममें बताते हैं कि विषयकषायोंके छिद्र पाकर ये कर्म आते हैं और दृष्टांत देते हैं कि जैसे पानीमें नाव बह रही है और नाव में छेद हो तो उसमें पानी आ जाता है। इसी प्रकार आत्मामें रागद्वेषादिकके छिद्र हों तो वहां भी कर्मोंका आश्रव होता है। और जिस नावमें पानी भर गया उसको बचानेका उपाय क्या है कि सबसे पहिले छेद बंद कर दें—यह सबसे पहिला काम है और फिर जो पानी आ गया है उसे उलीच दें। यदि पानी उलीचते रहें, छेद बंद न करें तो पानी आना तो बंद नहीं हो सकता। हां, यह हो सकता है कि पानी आने वाला छिद्र छोटा हो तो पानी उलीच कर कुछ मामूली कार्य किया जा सकता है। सो उस सुविधाका कारण छिद्र की कमी समझो, छिद्र नहीं। छेद यदि बड़ा है तो पानी उलीचने से भी काम नहीं बनता है। सो पहिला काम तो यह है कि उस छेदको बंद कर दें।

इसी प्रकार आत्मामें जो रागद्वेष के छिद्र हैं, उनको पहिले बंद करदें भेद विज्ञानसे, आत्मस्वरूपके ज्ञानसे। सो उस आत्मस्वरूपके ज्ञानके प्रताप से इन छिद्रोंको बंद करके अपने आपको निरखें, जैसा परमात्माका स्वरूप

है वैसा ही निरखें तो यह ज्ञानानन्दमय जो अपनास्वरूप है, उस स्वरूप पर विश्वास करो, उसकी रुचि करो। ऐसी तीव्र रुचि हो जाने से ये विषय-कषाय असार अहित प्रतीत होने लगेंगे। यह उपाय आत्माके उद्धारका है। यह शरीर कैसा है? यह शरीर गंदी अपवित्र चीजोंसे भरा हुआ है।

किन्तु, भगवान् शुद्ध आत्मा अर्थात् अपने आपमें विराजमान परमात्मस्वरूपकी ओरसे यह आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रूपी मलसे रहित है। जैसा मलरहितपना हम परमात्मामें एकदम निःशंक होकर निरखते हैं, इसी प्रकार आत्माकी औपाधिक अन्य चीजों पर दृष्टि न देकर केवल उसके स्वरूपको ही देखें तो उसके स्वरूपके अन्दर घुसकर यह दीखेगा कि यह भगवान् ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आत्मा भी भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मके मलसे रहित है, ऐसा यह भगवान् शुद्धआत्मा पवित्र है और ऐसा पवित्र भी प्रभु इस उपाधि और औपाधिक भावके चक्करमें जकड़ा पड़ा है। यह बंधन कैसे छूटे? अमुक निमित्तसे बंधन हुआ—ऐसी दृष्टि करने से बंधन नहीं छूटता। होता है जान लो। यह निमित्तका ज्ञान तो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावनाके लिए है कि ये रागद्वेष मुझमें मेरे स्वभावसे नहीं आये, मेरे सत्त्वके कारण नहीं आये, किन्तु निमित्त पाकर आए। पर दृष्टि अब निमित्त पर नहीं गड़ावो। दृष्टि करो कि अपने आपका अपने आप कैसा स्वरूप है? तो स्वरूपके ज्ञानके बलसे यह छिद्र दूर होगा।

इस प्रकार देह और आत्मामें भेदको जानकर, देहसे ममत्वको त्याग कर, वीतराग समाधिमें स्थित होकर इसही आत्मस्वरूपकी भावना करना चाहिए। समाधि कहो, अनुभूति कहो, भावना कहो—ये सब ज्ञानकी वृत्तियां हैं। बस उस ज्ञानके स्वरूपको ही जाननेमें लग जायें, यही भावनाका उपाय है। जैसे हम अनेक चीजोंको जाना करते हैं, यह जाना, अमुक जाना, शरीर जाना, चौकी जाना, भींत जाना, और कुछ-कुछ आकाश भी जाना, इसी तरह यह जानने वाला भी तो कोई चीज है। वह क्या जाना नहीं जा सकता है? जो जानने वाला पदार्थ है वह किमात्मक है, बस जाननात्मक है, मैं केवल जाननस्वरूप ही हूं। तो ज्ञान क्या कहलाता है? जानन क्या कहलाता है? उसकी रचनाको, स्वरूपको देखनेमें लग जायें तो वह सहज ज्ञान प्रकाशमात्र ज्ञात होगा और उसके ही ज्ञानसे ज्ञानका अनुभव होगा। वही स्थिर हो जाय तो उसीके मायने हैं समाधि। ऐसी निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर उस आत्माकी निरन्तर भावना करनी चाहिए।

दुक्खहँ पावइँ असुचियइँ तिहुयणि सयलहिं लेवि।
एयहँ देहविणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ॥१५०॥

तीन लोकमें जितने दुःख हैं, पाप हैं, अशुचि पदार्थ हैं, उन सबको लाकर, इन सब मिली हुई चीजोंसे इस विधाताने, इन कर्मोंने अपना वैर भँजाने के लिए यह शरीर बनाया है, अर्थात् यह शरीर केवल दुःख उत्पन्न करने के लिए कारण बन रहा है। भैया! हर तरह मौत है इस प्राणी की। शरीर मिले तो अहंकार करके। राग करके जिसे कहते हैं आसमानमें सिर उठाकर चलना। इस तरहकी बुद्धि बनाकर, आत्मस्वरूपको भूलकर संसार बढ़ाता है, और यदि क्लेशकारी शरीर मिला, रोगी हुआ अथवा कमजोर हुआ, कुबड़ा शरीर हुआ, मोटा हुआ, कैसा ही हुआ तो उस आत्मामें दुःख रहते हैं! शरीर अच्छा मिले तो दुःख, बुरा मिले तो दुःख। शरीरके संयोग के कारण कोई जीव सुखी हो नहीं सकता। अपने आपके आत्मामें आत्म-स्वरूप का ज्ञान वर्तता हो तो सुख हो सकता है। सुख पानेका और दूसरा उपाय नहीं है।

यहां मानो अलंकाररूपमें कह रहे हैं। किससे यह शरीर रचा है? सारी दुनिया भरमें सब जगहसे खोज कर अपवित्र, गंदी समस्त चीजें ले आवो। उन सबको मिलाकर यह देह बना हुआ है, फिर भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसे होते हैं कि इसही अपवित्र शरीरमें ऐसा अवसर बनाते हैं कि वह काम कर लिया जाय जो विक्रिया वाले देवोंसे भी नहीं बनता। क्या? आत्माका परमहित। यह सब ज्ञानकी महिमा है।

यह देह दुःखरूप है। तीन लोकके जितने दुःख होते हैं उन सब दुःखों से यह शरीर रचा गया है। पर परमात्मा अथवा यह निज शुद्ध आत्मतत्त्व देहमें स्थित होकर भी निश्चयसे देहसे भिन्न है। यह तो सुख स्वभाव वाला ही है। शरीर है दुःखस्वभावी, किन्तु इसके अन्दर रहने वाला जो आत्म-स्वरूप है, चैतन्यतत्त्व है वह तो अनाकुलता लक्षणको लिए हुए है, सुखस्वरूप है। तीन लोकमें जितना पाप होता है उतने पापसे रचा हुआ यह देह है, पापमय है। पर यह शुद्धआत्मा अर्थात् ज्ञायकस्वभाव भगवान् आत्म-व्यवहारसे देहमें स्थित है। वह आत्मा निश्चयसे पापरूप देहसे भिन्न है, पवित्र है। यह देह तो तीन लोकमें स्थित अपवित्र द्रव्योंसे रचा हुआ है, यह अशुचिरूप है। पर इसमें विराजमान शुद्ध आत्मा व्यवहारसे देहमें स्थित है। तो भी निश्चयसे देहसे पृथग्भूत होनेसे अत्यन्त निर्मल है। सो इस देह के साथ इस आत्माका सम्बन्ध मत जोड़ो। भेद करो।

मैं तो ज्ञानमय पवित्र पदार्थ हूं, ऐसे देहसे आत्माको भेद करके, अलग करके इस ज्ञानस्वभावी भगवान् निज आत्माका ध्यान करना चाहिए, इसकी भावना करनी चाहिए। भैया! जैसे जागते, सोते, चलते, उठते, बैठते अपने

नामकी खबर रहती है, मैं अमुक लाल हूं, अमुक चंद हूं, अमुक प्रसाद हूं, इसी तरह चलते उठते, बैठते, सोते, जागते अपने चैतन्यस्वरूपकी खबर रह सके तब समझो दृढ़तम ज्ञानयोग है। और ऐसा ही ज्ञानयोग करना सबका कर्तव्य है।

मोहमें तो सब बाह्यपदार्थोंमें अपना सिर पटकते हैं, उपयोग बिगाड़ते हैं। घरके २–४ प्राणी ही इस मोहीके गुरु बन रहे हैं, देव बन रहे हैं, भगवान् बन रहे हैं। जितनी भी मेहनत करें, उन्नति, तरक्की की सोचें वह सब परके उन चार जीवोंके लिए ही सोचते हैं। अनन्त जीवोंमें से छांट करके दो चार जीवोंमें ही राग अटका देते हैं। वचन अच्छे बोलते हुए, प्रेम भरे हृदयसे प्रेम उमड़ाते हुए दो चार घरके जीवोंके लिए ही सारी कमायी कर रहे हैं। सारे धनका उपयोग घरके उन चार छः जीवोंके लिए ही, उनके ही मौजके लिए व्यय हो, यह सब कितना अनर्थ हो रहा है ?

अहो ! इस ज्ञायकस्वरूप भगवान्का यह उपयोग कहां डोल रहा है ? अपने आत्मस्वरूपको नहीं संभालता। सो ऐसा भेदविज्ञान करके परवस्तुवों से मोह हटावो, सम्यग्ज्ञान बनावो। मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप भगवान् हूं, प्रभु हूं, समर्थ हूं। स्वरूपदृष्टिसे देखा जा रहा है। स्वभाव इसका कैसा है ? और यह बंधनमें मिला हुआ देह अशुचि है। ऐसा इस देहके साथ इस निज शुद्ध आत्माका भेद जानकर निरन्तर आनन्दमय ज्ञानघनके रस निज आत्मा की उस ज्ञानात्मक परिणतिसे परिणम-परिणमकर भावना बनाना चाहिए।

जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंति।
णाणिय धम्मे रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥१५१॥

हे योगी ! यह शरीर घिनावना है, इसमें रमते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती। हे ज्ञानी ! तू आत्माको निर्मल करते हुए धर्ममें प्रीति कर। यह शरीर घिनावना है। सो इसकी बात स्पष्ट ही है, दिखता है—मल है, थूक है, नाक है ! खून है, हड्डी है। (इसके भीतर कौनसी ऐसी चीज है जो आदेय है ? लोगोंको सुहावनी लगें, घिनावे नहीं ? ऐसी कोई भी चीज इस शरीरमें नहीं है।

वास्तवमें तो सबसे अधिक घिनावना है मोहपरिणाम, क्योंकि जो कुछ दुनियामें घिनावना दिख रहा है, नाली है, गंदी जगह है, मल मूत्र है, इन सबकी जड़ क्या है ? ये तो एक आहारवर्गणाके परमाणु हैं, जिन्हें जीव ने जब तक नहीं ग्रहण किया था तब तक वे अच्छे ढंगके थे। खूनहड्डी रूप नहीं बना था। जैसे ही इस जीवने उन स्कंधोंका प्रयोग किया वैसे ही वे खून रूप, हड्डीरूप, दुर्गन्धरूप बनने लगे। जिसके सम्बन्धसे अच्छे भी पदार्थ बुरे

बन जायें बुरा तो वह है। इस मोही जीवके सम्बन्धसे वे पुद्गल बुरे बन गए तो यह मोही जीव ही बुरा हुआ। और मोही जीवमें भी विश्लेषण करके देखो तो जीव बुरा नहीं होता, किन्तु उसमें जो मोह परिणाम है वह बुरा हुआ। सबसे अपवित्र कौन तत्त्व है? यह मोह है। सो यहां इस प्रकरणमें यह उपदेश है कि यह शरीर बड़ा घिनावना है, इसमें रमते हुए तुम्हें लाज नहीं आती।

कहां तो तुम पवित्र घिनावनेपनसे रहित अमूर्तिक शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र हो, जिसकी कला बड़ी महान् है, जिस कलासे यह जीव समस्त विश्वका ज्ञाता द्रष्टा हो जाता है, ऐसी कलायुक्त होकर पवित्र होकर भी ऐसे घिनावने देहमें रमनेका उपयोग किया है, सो तुम्हें लाज नहीं आती। तो ऐसा सुनकर जिज्ञासा हुई कि क्या करना चाहिए? उत्तर मिलता है कि हे ज्ञानी! निश्चयसे धर्ममें प्रीति कर। प्रीति करने का अर्थ यह है कि अपने उपयोग को ऐसा ही बनाकर याने ज्ञातृत्व परिणमन जैसी स्थिति बनाकर उस आत्मस्वभावका ग्रहण कर। यह बात चारित्र द्वारा साध्य है। लगन होवे, उस आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि होती रहे तो उसका अनुभव होता है। अपने उस निश्चयधर्म द्वारा अर्थात् वीतराग चारित्रके द्वारा तुम धर्ममें प्रीति करो। कैसे? अपने आत्माको निर्मल करते हुए।

भैया! यह आत्मा स्वभावमें निर्मल है तो निर्मल पर्यायमें हो सकता है। अर्थात् इसका स्वभाव स्वयं सहज अपने ही स्वरूप है, केवल प्रतिभास-स्वरूप चैतन्यात्मक। अपने आपकी ओरसे स्वभावसे इसका कार्य केवल चेतने का है। रागद्वेष विकल्प संकल्प, दुःख सुख विह्वलता, क्षोभ—ये सब इस आत्माके स्वभावमें नहीं हैं। इसी कारण यह अलग हो सकेगा और अपने स्वभावके अनुकूल शुद्ध पूर्ण विकास भी हो सकेगा। सो जैसा इसका स्वभाव है उस पर दृष्टि इसकी लगे तो इसका विकास हो सकता है। ऐसे अपने आत्माको अपनी दृष्टिमें लेकर निर्मल बनाओ अर्थात् आर्तध्यान, रौद्रध्यान आदि जो विकल्प उठते हैं, मलिनताएँ आती हैं उनका त्याग करके अपने आपको निर्मल बनाओ।

देखो भैया! अपना सुख दुःख अपने हाथ है। अपनी निर्मलता उन्नति ये अपने ही उपयोगके आधीन हैं। कोई दूसरा अपने को निर्मल करने न आयेगा। यह जगतजाल है, ये दृश्यमान् पदार्थ हैं अपने लिए अत्यन्त निःसार, पर रागद्वेषका एक आश्रय बन जाता है तो यह जीव भूल जाता है। एक बड़े अंधेरेमें इसकी गति होने लगती है। अंधेरेमें रहनेके कारण अर्थात् मोहभावमें ही अपने उपयोगको म्लान करने के कारण यह

जीव विवश हो जाता है, जन्म मरणके दुःख भोगता है और कुछसे कुछ दुःख हो जाय, कुयोनि हो जाय, त्रस होगया, स्थावर हो गया, कुछ बन गया तो फिर क्या करेगा ? आज तो मनुष्य है सो थोड़ा ऐब करके भी अपनी चतुराईके बलसे लौकिक जनोंमें पोजीशन रख सकते हैं। सो यह भी कुछ बहुत समय तक नहीं चल सकता है।

भैया ! जो कर्मबन्धन होता है उसके उदयकालमें फिर क्या कर लोगे ? मरणके बाद एकदम वह अवस्था हो जायेगी जैसा जीवनमें कर्मबन्ध किया था उसके अनुकूल। उसे कौन रोक सकेगा ? कपट फिर न चल सकेगा, अपनी चतुराई न चल सकेगी। इन सब इन्द्रियों, शरीर आदिका वियोग हो जायेगा तो कौनसी चतुराई की जायगी ? सो अपने समस्त विकल्पजालोंको त्यागकर एक सीधा सहज जैसा स्वयं है ऐसे स्वभावको ग्रहणकर, जो पवित्र है उस ही में रम और यह देह जो अपवित्र है, घिनावना है उसमें मत रम।

जोइय देहु परिच्चयहि देहुण भल्लउ होइ।
देहविभिण्णउ णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥१५२॥

हे योगी ! इस शरीरसे प्रीतिको छोड़। यह शरीर भला नहीं है, इस लिए इस शरीरसे भिन्न रागादिक गुणमय उस आत्माको तू देख। यह देह तेरे ग्रहण करने योग्य नहीं है। क्योंकि तू कैसा और यह देह कैसा है ? इस बातको देख। तू तो पवित्र ज्ञान शरीर है। शरीर याने जिसका जो कुछ ढांचा निर्माण जिससे है, वह भी उसका शरीर काव्यमें कहा जाता है। आत्माका शरीर एक ज्ञानप्रकाश है। यह आत्मा अपने आपमें सबसे विविक्त ज्ञानप्रकाश मात्र है। ऐसा शुचि देह वाला और नित्य आनन्द ही एक स्वभाव जिसका, ऐसा है न। यह उपयोग बाहर जाय तो आनन्द किसने लूटा ? यह आनन्द ही स्वरूप है नित्यानंद एक स्वभाव वाला है, ऐसा जो शुद्ध आत्मद्रव्य है अर्थात् स्वतंत्र केवल अकेला ही जैसा यह कुछ है ऐसा है आत्मद्रव्य और उससे विलक्षण यह देह है।

यह आत्मा अशुचि दुर्गन्ध, धातु उपधातु वाला है। इस जीवका नित्यानंद स्वभाव है तो इस शरीरका जड़ स्वभाव है। ऐसा तू पवित्र होकर भी इस अपवित्र शरीर को सेता है तो यह तो तेरे कुलके योग्य बात नहीं है। तेरे कुलके योग्य बात तो वह है जो तेरे कुलके पुरुषोंने किया। इस मनुष्यकुलके पुरखा, महान् नेता पुरुष तीर्थंकर और चरम शरीरी पुरुष हुए हैं। उन्होंने जो किया है वह इस चैतन्यकुलके योग्य ही किया है। तू भी उसी चैतन्यकुलका है तो उनकी ही तरह योग्य कार्यको कर, अपनेसे उपयोग

भ्रष्ट करके घिनावने देहादिकमें रम जाना, यह तेरे कुलके योग्य बात नहीं है। इस देहको तू छोड़। देह भला नहीं है।

ऐसा सुनकर इस श्रोताके मनमें जिज्ञासा हुई--तो फिर मुझे करना क्या चाहिए? तो उत्तर दिया जाता है कि देहसे भिन्न जो ज्ञानमय आत्मा है उस आत्माको तू देख, यह आत्मा केवलज्ञानसे रचा हुआ है। जैसे और पदार्थोंमें कुछ चीजें मिलती हैं, रूप मिला, कुछ पिंड मिला, कुछ कठोर बात मिली, इसी तरह आत्मामें यदि घूमने जावो तो आत्मामें क्या मिलता है? जिससे कि यह समझ बैठा लो कि यह है आत्मा। आत्मामें मिलेगा केवलज्ञान, प्रतिभास, चिद्वृत्ति। तो ऐसे ज्ञानके अविनाभूत अनन्त ज्ञानमय जो आत्मा है उस आत्माको तू अपने लक्ष्यमें ले कि मैं यह हूं।

भैया! अपनी सृष्टि 'मैं' के निर्णय पर निर्भर है। मैं अपने को किस रूपमें मानता हूं, बस सारी सृष्टि उसके आधार पर चलती है। यदि देहादिक परद्रव्योंमें मैं की बुद्धि जगे तो जन्ममरणकी परम्पराकी सृष्टि बनती है। और केवल ज्ञानमात्र स्वरूप इस आत्मज्योतिमें ऐसी ही दृष्टि बने कि मैं तो यह ज्ञान ज्योतिमात्र हूं—ऐसी दृष्टि बने तो जिसकी दृष्टि ऐसी बन गयी, जिसकी इस ओर लगन हो गयी, उसकी जन्म मरणकी परिपाटी दूर होकर ज्ञानविकास आनन्द विकासरूप मोक्षमार्गकी ओर मोक्षकी सृष्टि होगी—ऐसा तू अपने आपको निर्णय कर। इस देहसे तू अत्यन्त न्यारे स्वरूप वाला है। देहको तो लोग मरने पर जला डालते हैं, तो क्या तू जलाये जाने वाली चीज है? इस देहसे न्यारा जो ज्ञानमय स्वरूप है उस आत्मा को तू देख।

इस आत्माकी दृष्टि और भावना बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा रौद्र और आर्त परिणाम दूर हो। किस पर क्रोध करना? क्रोध किया जाता है तब, जब हमारे किसी इष्ट पदार्थमें बाधा आती हो। मेरे लिए वास्तवमें इष्ट कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं। कौनसा अन्य पदार्थ मेरे इस आत्माको भला कर देगा? न धन, न परिवार, न लोग, न मित्रजन कोई भी मेरे आत्माका हित और सुखी करनेके कारण नहीं होते हैं। फिर उनसे बाधाएँ आती हैं क्योंकि जैसे मांसखण्डके अनेकों पक्षी ग्राहक हैं, किसी पक्षीके पास कोई मांस खण्ड पड़ा हो तो दूसरे पक्षी उस मांसखण्डको उससे छुड़ानेके लिए दौड़ते हैं, इसी तरह यह धन वैभव है। चूँकि इसके ग्राहक ये समस्त संसारी जीव हो रहे हैं जो जिसका दाव लगा वही छुड़ाने को तैयार है। सो बाधाएँ तो इसमें हैं हीं। सो चूँकि अज्ञानी जीवोंको बाह्य इष्ट मान लिया है, सो आर्द्र सार्द्र परिणाम करता है।

कृष्ण लेश्या यह कब जगती है जब परपदार्थोंमें लगन लगी हो, उनसे ही हित माना हो, परके कारण अपना बड़प्पन और गुजारा मानाहो तब जाकर ऐसा खोटा परिणाम होता है। जिसके कृष्ण लेश्याका परिणाम हुआ वह बड़ा प्रचंड क्रोधी होता है और बैरको नहीं छोड़ता है। कभी ऐसा उसे भान नहीं होता कि कोई जीव मेरा बैरी कहां है? कोई बैरी नहीं है। वे सब जीव हैं। अपने-अपने भावोंके अनुसार वे परिणमते हैं, कोई मेरा शत्रु कहांसे होगा? ऐसा इस लेश्याके परिणाममें उसे भान नहीं हो पाता है। और इसी कारण उसकी प्रवृत्ति बहुत भयंकर होती है। चाहे गंदे वचन बोले, चाहे दगा छलकी प्रवृत्ति करे। धर्म और दयाका तो वातावरण ही नहीं है वह दुष्ट है, किसी के वशमें नहीं आ सकता है। ऐसा खोटा परिणाम जहां हो, वहां देहसे भिन्न आत्मापर दृष्टि पहुंचनेका कुछ अवसर भी मिलता है क्या? उसका तो खोटा परिणाम चल रहा है।

इसी प्रकार धन धान्य आदिमें तीव्र अभिलाषा होना, मूर्छा होना, विषयोंमें आकांक्षाएँ होना—ये सब नील लेश्याके परिणाम हैं। तो अपने उस शुद्धस्वरूप पर कैसे दृष्टि पहुंचे?

शुद्धस्वरूपका अर्थ है केवल अपने आप जो कुछ मैं हो सकता हूं उस रूपमें उसको देखना इसे कहते हैं शुद्ध आत्माकी दृष्टि। रागादिक दोषरहित अथवा कर्ममलरहित आदिरूपमें देखनेके लिए नहीं कहा जा रहा है क्योंकि ऐसा मैं हूं कहां अभी? रागादिक रहित होऊँ या कर्ममल रहित होऊँ, हूं कहां ऐसा? तथापि सबके बीच भी अपने आपका अकेला स्वरूप भी कुछ है कि नहीं। केवल इस स्वरूपकी दृष्टिके लिए कहा जा रहा। इस केवलस्वरूप की दृष्टि होने पर जो कुछ चाहिए शांतिके लिए, मोक्ष मार्गके लिए, वे सब बातें आ जाती हैं। पर तू अपने आपको केवल तो देख। इस जीवने परमार्थ से अपने आपको अकेला अभी तक नहीं पाया।

भैया! अज्ञानी जीव इस देहकी हालतमें ही देख रहा है कि लो यह मैं हूं, उस पर्यायको देखकर जो दुकेला तिकेला है। यह देह अनन्त परमाणुवों का पिंड हो रहा है। फिर इतना ही नहीं, परिवार वाला मैं हूं, धन वाला मैं हूं, इज्जत वाला मैं हूं। कैसी-कैसी ज्ञानातिरिक्त नानाभावोंमें इस की खिंची हुई दृष्टि रहती है। यही कारण है कि यह संसारमें भटकता है और दुःखी होता है। नहीं तो जैसा यह चित्प्रकाश चैतन्यस्वभाव है वैसा इस ध्यानमें आये तो वहां संक्लेश, संकट, उपसर्ग सब समाप्त हो जाते हैं। तू अपने आपको देहसे भिन्न निरख, केवल चैतन्यमात्र देख, इस देहमें ममत्व

मत कर। यह देह भला नहीं है। इस देहके ममत्वसे तुझे कुछ भलाई नहीं प्राप्त हो सकती है। अतः इस देहरूप अपने को न मान, केवल ज्ञान प्रकाश मात्र मान।

दुक्खहँ कारण मुणिवि मणि देहुवि एहु चयंति।
जित्थु ण पावहिं परम सुहु तित्थु कि संत वसंति ।।१५३।।

नारक आदिक दुःखोंका कारण इस देहको अपने मनमें मानकर ज्ञानी जीव इसका ममत्व छोड़ देते हैं। जिस देहसे उत्तम सुख नहीं पाते उसमें सत्पुरुष कैसे रम सकते हैं? यह देह नारकादिक दुःखोंका कारण है। हैं तो दुःखके कारण आत्माके रागद्वेष मोह भाव, मगर आश्रय दृष्टिसे कहा जा रहा है कि जितने यह जीव पाप करता है वे सब इस देहके लक्ष्यसे ही तो करता है। यह देह मैं हूं, तो इस देह को तो चाहियें इन्द्रियोंके विषय, क्योंकि देह इन्द्रियात्मक है और इन्द्रियात्मक देहका रमण इन्द्रिय विषयोंमें हो सकता है। चाहिए इसे विषय। सो देहको आपा मानने के कारण यह विषयोंमें प्रवृत्त होता है।

वह भले ही विषयोंमें न लग सके, विषय छूटे तो छूटे, (वह छूटना नहीं कहलाया) पर वह अपने अन्तरमें मनपूर्वक नहीं छूटता है। मनपूर्वक अंतरङ्गसे विषयोंके छूटनेका यह परिचय है कि अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि हो और एक अलौकिक आनन्दका अनुभव हो। जिस अनुभवके बाद ये सारे दृश्यमान् साधन उसे नीरस लगने लगते हैं। सो ऐसा अपने आपका अनुभव न हो पाया, क्योंकि इस शरीरमें ही आपा बुद्धि लगी है। सो यह अज्ञानी ऐसे पाप करता है जिसके फलमें नारक आदि दुःख भोगने पड़ते हैं। अपना देह रुच गया, दूसरेका देह रुच गया और कैसा रुच जाता है कि है अत्यन्त घिनावना, निःसार; मगर ऐसे इस मोही जीवको लगता कि सर्वस्व सारभूत तो यह देह ही है।

ये संसारके प्राणी नाना प्रकृतियोंके हैं। कोई तो थोड़ेसे ही ज्ञानसे उन विषय विषोंसे लौट आता है, कोई उन विषय विषोंमें आपत्ति पाकर, परिचय पाकर लौटता है और तीसरे कोई ऐसे बेशर्म होते हैं कि जब तक दममें दम है, शक्ति है तब तक आसक्त होकर लगे ही रहते हैं। मरनेपर ही सम्बन्ध छूटता है। भैया! ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यकुल पाकर अपना जीवन ममत्व में बिताया गया, रागद्वेषमें बिताया गया तो यह तो बहुत बड़ा अपराध है। यदि इस अपराधमें ही अपना सारा समय बिता दिया तो यह मनुष्यजन्म पाना भी व्यर्थ ही रहा, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि यह मनुष्यजन्म पाने का अवसर बार-बार तो आता नहीं है, गया सो गया। इस मनुष्यजन्मके

पाने से कोई लाभ न हुआ।

इस मनुष्यजन्मके पाने से लाभ तो तब है जब इन विषयकषायोंसे लोक सन्मानसे, इन सबसे मुख मोड़कर अपने अन्तरमें अनादि अनन्त विराजमान नित्य प्रकाशमात्र इस परमब्रह्म चित्स्वरूपकी दृष्टि करें। ओह, यह मैं हूं, चित् प्रकाश हूं। भैया! किसे क्या दिखाना है, किसके लिए बनावट करना है, अपना पूरा अपने से ही पड़ेगा। दूसरे से पूरा नहीं पड़ सकता। इस कारण सारे विकल्पजालों को त्यागकर और विशेषतया दृश्यमान् इस देहादिक की प्रीतिको छोड़कर अपने आपमें बसे हुए शुद्ध ज्ञानानन्दघन आनन्दस्वरूपका अनुभव तो करलो। कब होगा अनुभव? जब विकल्प छोड़ोगे। यह विकल्प छूटेगा कब? कमसे कम इतना ज्ञान तो करो कि मैं सबसे न्यारा हूं, और ये सब चीजें बिछुड़ने वाली हैं। इनके साथमें पड़कर कुछ भला न होगा। इतना ज्ञान तो कमसे कम रखो और इस ही ज्ञानके बल पर इतनी हिम्मत तो बनावो कि किसीका उस क्षण ख्याल न करो, तब अपने आपको ही अपने अन्तरमें से उस ज्ञानज्योतिका प्रकाश मिलेगा, अनुभव होगा और आनन्दका अनुभव होगा। बस इतना अनुभव होने के बाद विश्वास हो जायगा कि यह मैं हूं, यह करना मेरा काम है। इसके अतिरिक्त सब मायाजाल है। ऐसे प्रयत्नपूर्वक अपने आपके आत्मामें रति हो तो अपना कल्याण निश्चित् है।

❀ इति परमात्मप्रकाश प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ❀

मुद्रक—खेमचन्द जैन, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ